वैराग्य-वाणी

-: प्रवचनकार :-

प.पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचंद्रसूरीश्वरजी महाराजा

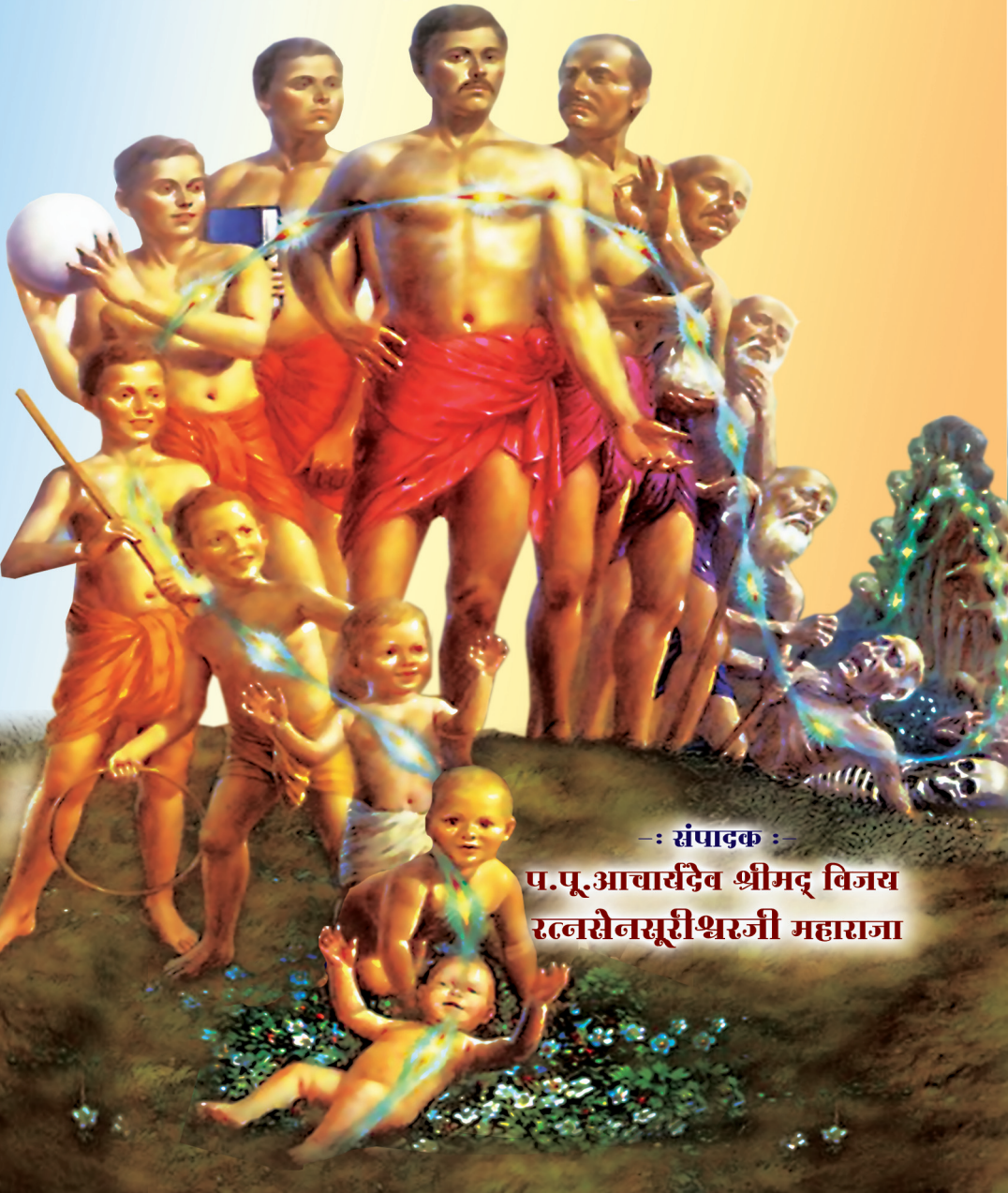

-: संपादक :-

प.पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी महाराजा

वैराग्य-वाणी

प्रवचनकार

सिद्धांत महोदधि, कर्म साहित्य निष्णात, चारित्र चुडामणि
पूज्यपाद **आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी म.सा.**
के पट्टधर जिनशासन के महान् ज्योतिर्धर, परम शासन
प्रभावक, कलिकाल कल्पतरु पूज्यपाद आचार्यदेव
श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा

हिन्दी अनुवादक-संपादक

अध्यात्मयोगी निःस्पृहशिरोमणि पूज्यपाद पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य के चरम शिष्यरत्न
जैन हिन्दी साहित्य-दिवाकर पूज्य आचार्यदेव
श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

232

प्रकाशन

दिव्य सन्देश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे.व्यु. बिल्डींग,
विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी,
मुंबई-400 002. Cell 8484848451 (only whatsapp)

आवृत्ति : प्रथम • **मूल्य :** 140/- रुपये • **प्रतियां :** 1000
विमोचन स्थल : श्री त्रिभूवन तारक श्वे.मू.तपा.जैन संघ-भायंदर
तारीख : दि. 29-10-2022 • **Website :** Divyasandesh.online

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 3000/- रु.

- आप जैन धर्म के रहस्य-जैन इतिहास-जैन तत्त्वज्ञान-जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप दिव्य संदेश प्रकाशन मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.*** सा. द्वारा लिखित उपलब्ध 10 पुस्तकें दी जाएगी और **अर्हद् दिव्य संदेश** मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें (Open Book Exam साधु–साध्वी उपयोगी पुस्तके एवं पुनः मुद्रित पुस्तकों को छोडकर) घर बैठे प्राप्त होगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. चेतन हसमुखलालजी मेहता
भायंदर (M.S.)
M. 9867058940

2. प्रवीण गुरुजी
C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि जैन पुस्तकालय
श्री आदिनाथ जैन टेंपल, चिकपेठ, बेंगलोर-560 053.
M. 9036810930

3. राहुल वैद
C/o. अरिहंत मेटल कं., 4403, लोटन जाट गली, पहाड़ी धीरज, सदर बाजार, दिल्ली-110 006.
M. 9810353108

4. चंदन एजेन्सी
607, चीरा बाजार, मुंबई-400 002.M.9820303451

आजीवन सदस्यता शुल्क

Rs. 3000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

(2) दिव्य संदेश प्रचारक

प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमट रोड, शंकरपुरा, बैंगलोर-560 004. Tel. (O.) 4124 7478 M. 8971230600

प्रकाशक की कलम से

'वैराग्य वाणी' पुस्तक के माध्यम से परम शासन प्रभावक, महाराष्ट्र देशोद्धारक व्याख्यान वाचस्पति **पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा** द्वारा दिए गए तीन प्रवचन एवं कुछ प्रवचांशों का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत ही हर्ष हो रहा है ।

पूज्य आचार्य भगवंत को उनकी **'गणि' पदवी** के पावन प्रसंग पर उन्हीं के दादा गुरुदेव परम गीतार्थ **पूज्य आचार्य श्रीमद् विजय दानसूरीश्वरजी महाराजा** ने उन्हे **'व्याख्यान वाचस्पति'** का विरुद प्रदान किया था ।

लगभग 72 वर्ष तक उनकी प्रवचन गंगा का प्रवाह सतत बह रहा था ।

उस प्रवचन गंगा में आत्म स्नान कर हजारों आत्माएं पतित से पावन बनी थी, सैकडों आत्माओं ने मोह के साम्राज्य को तिलांजलि देकर धर्मराजा के आधिपत्य का स्वीकार किया था ।

सर्व विरति धर्म के स्वीकार के लिए असमर्थ आत्माओं ने श्रावक धर्म का स्वीकार कर अपने जीवन को मोक्ष मार्ग के अभिमुख बनाया था ।

यद्यपि पूज्यपादश्री ने ये सभी प्रवचन गुजराती भाषा में दिए थे । गुजराती एक प्रांतीय भाषा हैं, जिसका प्रचार-प्रसार गुजरात में मुख्य हैं, जब कि हिन्दी राष्ट्र भाषा है ।

यदि उस भाषा में ये प्रवचन प्रकाशित हो तो हिन्दी भाषी प्रजा भी लाभान्वित हो सकती है, बस, इसी मंगल भावना को ध्यान में रखकर **मरुधररत्न पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** ने उन प्रवचनों का सरल हिन्दीकरण कर हिन्दी भाषा प्रजा पर महान् उपकार किया है ।

हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि ये प्रवचन मोह की गाढ निद्रा में सुषुप्त आत्माओं के लिए घंटनाद का काम करेंगे !

संपादक की कलम से

जिनशासन के महान् ज्योतिर्धर परम शासन प्रभावक दीक्षा के दानवीर **स्व. पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.** ने अपने संयम जीवन में लगभग 70 वर्षो तक जो प्रवचन की गंगा बहाई थी, उससे हजारों आत्माओं ने अपने कर्म मल का प्रक्षालन किया था। गुजराती भाषा में प्रकाशित **जैन प्रवचन** और **'जिनवाणी'** के माध्यम से पूज्यपादश्री की वाणी को **'शब्द-देह'** दिया गया था और दूर-सुदूर क्षेत्रों में रहनेवाले लोगों ने भी उस वाणी का लाभ उठाया था।

गुजराती भाषा में पूज्यपाद श्री का आज तक ठीक-ठीक प्रमाण में साहित्य प्रकाशित हुआ है। जब कि हिन्दी भाषा में बहुत ही अल्प प्रमाण में साहित्य प्रकाशित हुआ है।

स्वर्गस्थ पूज्यपाद श्री ने आज से लगभग 110 वर्ष पूर्व भागवती दीक्षा अंगीकार की थी। जिस समय पूज्यपाद श्री ने दीक्षा अंगीकार की थी, वह दीक्षा के लिए अत्यंत ही विषम-काल था फिर भी उन्होंने अनेक संघर्षों को पारकर भागवती दीक्षा अंगीकार की थी ! अपने संयम जीवन में उन्होंनें अपने उपदेश द्वारा दीक्षा के उस दुष्कर-मार्ग को सुकर बनाया था। अपने वैराग्यमय प्रवचनों द्वारा उन्होंनें हजारों हृदय में संयम धर्म के प्रति अनुराग पैदा किया था, सैकडों आत्माओं ने उनके वरद-हस्तों से रजोहरण अंगीकार कर संयम की साधना में कदम उठाया था।

पूज्यपादश्री के वे वैराग्यमय प्रवचन आज भी अनेकों के हृदय में वैराग्य की ज्योति को प्रगट करने का काम कर रहे है।

पूज्यपाद श्री ने तो अपने जीवन काल दरम्यान हजारों वैराग्यपूर्ण प्रवचन प्रदान किए थे, उनमें से मात्र तीन प्रवचन तथा कुछ प्रवचनांश प्रस्तुत **'वैराग्य-वाणी'** पुस्तक में हिन्दी में अनुदित करने का अल्प प्रयास किया है ।

मुझे विश्वास है कि पूज्यपाद श्री के ये प्रवचन अवश्य ही सुषुप्त चेतना को जागृत करने में समर्थ बनेंगे ।

हिन्दी भाषा में अनुवाद करते समय प्रवचनकार पूज्यपाद श्री के शुभाशय को यथावत् रखने का पूरा पूरा प्रयास किया गया हैं, फिर भी कही भूल रह गई हो तो मिच्छा मि दुक्कडम् !

त्रिभुवन तारक श्वे.मू.जैन संघ
भद्रकाली मंदिर के पास,
स्टेशन रोड,
भायंदर (W) 401 101.
जिला-थाणा
दि. 1-11-2022

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद
पंन्यासप्रवर श्री
भद्रंकरविजय गणिवर्य
पादपद्मरेणु
रत्नसेनसूरि

सर्वतो मुखी प्रतिभा के धनी

लेखक :– पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

परम गुरुदेव परमाराध्यपाद परम कृपालु वात्सल्यवारिधि स्वर्गीय पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा के पावन चरण कमलों में श्रद्धांजलि-स्वरूप पुष्पांजलि देने के पूर्व किसी कवि की वे पंक्तियाँ याद आ जाती हैं–

है समय नदी की धार, जिसमें सब कुछ बह जाया करता है,
है समय बडा तुफान, जिसमें प्रबल पर्वत झुक जाया करते हैं,
अक्सर दुनिया के लोग, समय में चक्कर खाया करते हैं,
परन्तु कुछ ऐसे होते हैं, जो इतिहास बनाया करते हैं ।

इस विराट् दुनिया में अनगिनत लोग आते हैं और जाते हैं । जन्म लेते हैं और मर जाते हैं । परन्तु न तो उनके अस्तित्व का कोई मूल्य होता है और न ही उनके वियोग पर कोई कीमत चुकानी पडती है । परन्तु कुछ हस्तियाँ ऐसी होती हैं, जिन का अस्तित्व भी अत्यधिक मूल्यवान् होता है और उनके वियोग की वेदना भी इतनी करुण होती है कि उनकी अभिव्यक्ति को शब्दों में गुंथना संभव ही नहीं है, सिर्फ आंसुओं के द्वारा ही वेदना को अभिव्यक्त किया जा सकता है ।

वि.सं. 2047 श्रावण (गुज. अषाढ) वदी चतुर्दशी का वह काला दिन...प्रातः कालीन दस बजे का समय...उस समय क्रूर काल का पंजा परम करुणानिधि प्रगुरुदेवश्री पर पडा...और उनकी पावन आत्मा ने नश्वर देह छोडकर चिर विदाई ली । पूज्यपादश्री के वियोग की वह क्रूर क्षण में उस दर्दीले समाचार को सुनते ही किसकी आंखें अश्रुभीनी नहीं बनी ? उस समय मेरा चातुर्मास राजस्थान की वीर भूमि उदयपुर नगर में था । ठीक 12 बजे पूज्यपादश्री के कालधर्म के समाचार मिले । हृदय को अत्यंत ही आघात लगा । दोपहर में 2 बजे चतुर्विध संघ के साथ देववंदन क्रिया संपन्न की । देव वंदन बाद पूज्यपादश्री के विराट् व्यक्तित्व

को `दो शब्दों में अभिव्यक्त करना था परन्तु आंसुओं के सिवाय उसकी क्या अभिव्यक्ति हो सकती थी ।' उस वियोग की क्षण में मेरी नहीं, देश-विदेश के लाखों नर-नारियों की आंखें आंसुओं से भिग रही थी । लाखों के तारहणहार ! लाखों के लाडिलें !! लाखों हृदय में प्रतिष्ठित प्रगुरुदेवश्री के वियोग की पीडा अत्यंत ही आघातजनक थी । जैसे कि कवि की पंक्तियाँ बोलती हैं, पूज्यपादश्री ने अपने जीवन की प्रत्येक क्षण के द्वारा नए-नए इतिहास का सर्जन किया है ।

रामायण कालीन **रामचन्द्रजी** की भांति युगों युगों तक इन **'रामचन्द्रजी'** को भी भूला नहीं जा सकेगा ।

अपने जीवन के प्रारंभ काल से ही असत्य के सामने उनका जो संघर्ष रहा, उसका लेखा-जोखा करना इस कलम से संभव नहीं है । जीवन की अंतिम पलों में भी लडते ही रहे, भयंकर वेदना में भी 'असमाधि भाव' से संघर्ष कर विजय हासिल करते रहे और एक धर्मवीर योद्धा की भांति 'अरिहंत' के स्मरण में उन्होंने अपना नश्वर देह छोडा ।

दुनिया में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिन में कुछ-कुछ अलौकिक विशेषताएँ होती हैं । परन्तु पूज्यपादश्री तो सर्वतोमुखी प्रतिमा के धनी थे । उनकी बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्तित्व को शब्दों में गुंथना संभव ही नहीं है...फिर भी महान् पुरुषों के गुणगान से एकांत लाभ ही है, इस दृष्टि से मेरे जीवन की उन अमूल्य क्षणों को याद किए बिना नहीं रह सकता, जिन क्षणों में मुझे उस `छोटे कद' में विराट् व्यक्तित्व के दर्शन हुए–ये संस्मरणः जिन्हें कभी भूल नहीं सकता ।

वि.सं. 2029 के ज्येष्ठ मास का समय ! मेरे जीवन के प्राण, धर्मदाता परमोपकारी गुरुदेव पूज्यपाद पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री की पावन प्रेरणा से मुझे सर्व प्रथम बार-बम्बई-लालबाग में चातुर्मास विराजमान गच्छाधिपति पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा के दर्शन-वंदन का सुअवसर मिला । पूज्यपादश्री की प्रवचन गंगा में आत्मस्नान के बाद व्यक्तिगत रूप से

पूज्यपादश्री के साथ वार्तालाप का जो सुअवसर मिला था, उस क्षण को मैं जीवन भूल नहीं सकता । उस सयम मेरी दीक्षा लेने की तीव्र भावना थी, परन्तु माता-पिता की आज्ञा प्राप्ति के संदर्भ में तीव्र अवरोध था, उस समय पूज्यपादश्री ने मुझे समयोचित मार्ग दर्शन प्रदान किया, मेरी वैराग्य भावना को परिपुष्ट किया और दीक्षा हेतु शुभ आशीर्वाद दिए । सचमुच वैराग्य रंग से सुवासित पूज्यपादश्री के आशीर्वाद में कोई जादू ही होगा, जिसके परिणाम स्वरूप मेरी दीक्षा के अवरोध धीरे-धीरे दूर होने लगे और अल्पकाल में मुझे चारित्र धर्म की प्राप्ति हुई ।

अपूर्वनिष्ठा :– वि.सं. 2032 का समय ! महाराष्ट्र के विविध नगरों में विचरते हुए पूज्यपादश्री का **अहमदनगर** में भव्य नगर प्रवेश था । सद्भाग्य से मुझे भी उस प्रवेश प्रसंग पर उपस्थित रहने का अवसर मिला । हजारों नरनारी पूज्यपादश्री के स्वागत के लिए समुत्सुक थे, हजारों आंखें पूज्यपादश्री के पतित-पावन दर्शन के लिए पूज्यपादश्री पर स्थिर बनी हुई थीं । नगर प्रवेश के समय अहमदनगर में स्थित स्थानकवासी **आचार्य श्री आनंदऋषिजी** और पूज्यपादश्री का मिलन भी हुआ ।

औपचारिक विधि के बाद दूसरे दिन पूज्यपादश्री एवं आचार्य श्री आनंदऋषिजी के सामूहिक प्रवचन-कार्यक्रम का आयोजन रखा गया । दैनिक पत्रों में समाचार भी प्रसारित हो गए, परन्तु **ज्योंहि पूज्यपादश्री को पता चला कि 'श्री आनंदऋषिजी' तो माईक में ही बोलेंगें तुरंत ही पूज्यपादश्री ने अपना प्रोग्राम स्थगित कर दिया । सचमूच, यह निर्णय पूज्यपादश्री की दृढ़ निष्ठा का प्रतीक था ।**

वि.सं. 2033 का चातुर्मास काल में मेरी दीक्षा का प्रथम वर्ष था । मेरा चातुर्मास पूज्यपाद परम तपस्वी पंन्यास प्रवर **श्री हर्षविजयजी म.** के साथ पाटण में था । पूज्यपादश्री का चातुर्मास सुरत में था । **पूज्य पंन्यासजी महाराज जब भी पूज्यपाद आचार्यदेव श्री को पत्र लिखते, वे मेरे अध्ययनादि के संदर्भ में भी कुछ लिखते, उसके प्रत्युत्तर में परमतारक पूज्यपाद आचार्यदेवश्री की और से मेरे संयम जीवन**

स्वाध्याय आदि के लिए जो योग्य-मार्गदर्शन एवं हितशिक्षाएं मिलती, उन्हें पढकर मेरा हृदय फूले नहीं समाता ।

बारबार मुझे यही लगता कि इतने विराट् व्यक्तित्व के धारक पूज्यपादश्री शासन की अनेकविध प्रवृत्तियों में व्यस्त होने के बावजूद भी मेरे जैसे नूतन मुनि के जीवन-विकास के प्रति भी कितने जागरुक है ?

वि.सं. 2035 का समय ! पिंडवाडा से पाटण की ओर पूज्यपादश्री का विहार था । उस समय मेरी दीक्षा के बाद पहली बार डीसा में पूज्यपादश्री के दर्शन-वंदन आदि का लाभ मिला ।

सर्व प्रथम बार ही श्रमण मंडली में पूज्यपादश्री के मुखारविंद से **वाचना श्रवण** का अवसर मिला । **अपने आश्रितों के संयम-रक्षण के लिए पूज्यपादश्री कितने भीम और कांत थे उसके साक्षात् दर्शन हुए ।**

पूज्यपादश्री के एवं स्वर्गीय अध्यात्मयोगी गुरुदेवश्री पूज्य पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री आदि के साथ चातुर्मास का मेरे लिए पहला ही अवसर था ।

निरंतर चार मास तक पूज्यपादश्री के वैराग्यगर्भित प्रवचन एवं लगभग डेढ मास तक पूज्यपादश्री की वाचना श्रवण का लाभ मिला । उस समय पूज्यपादश्री **'अध्यात्म कल्पद्रुम'** के **'यति हितशिक्षाधिकार'** पर वाचना फरमाते थे । पूज्यपादश्री के शब्दों में हितबुद्धि के साक्षात् दर्शन होते थे । कभी कभी वाचना में पूज्यपादश्री अत्यंत कठोर बनते भी नजर आते...परन्तु उस समय भी उनकी अंतरात्मा में भाव करुणा का स्त्रोत अजस्त्र रूप से बहता था ।

प्रवचन-सभा में प्रश्नों के समाधान देने की उनकी लाक्षणिक शैली थी । वे प्रश्न का जवाब प्रश्नकर्ता के उद्देश्य को ध्यान में देकर करते थे । यदि कोई जिज्ञासा भाव से प्रश्न करता तो उसका जवाब बहुत ही सुंदर देते...और यदि प्रश्नकर्ता का उद्देश्य सिर्फ वातावरण को बिगाडने का ही होता, तब पूज्यपादश्री का जवाब भी वैसा ही प्रतीत होता, सचमुच पूज्यपादश्री में प्रश्नकर्ता के भाव को परखने की अद्भुत कला थी । जिज्ञासु व्यक्ति की जिज्ञासा का वे पूर्ण समाधान देते थे और उच्छृंखल व्यक्ति को बराबर `चूप' कर देते थे ।

वि.सं. 2042 का समय ! पूज्यपादश्री का अहमदाबाद से बम्बई की ओर विहार था । अहमदाबाद में पूज्यपादश्री के साथ 10-15 दिन रहने का सद्भाग्य मिला । मगसर सुद-14 के दिन ही मुझे बरलूट से पालीताणा के संघ में अहमदाबाद से जुडने का था । `भगवान नगर के टेकरे' के उपाश्रय से संघ को विदाई लेने की थी ।

शाम के विहार के पूर्व पूज्यपादश्री ने मुझे बुलाया और कहा, `इस बार तुझे आचार्य प्रद्योतनसूरिजी के साथ `ज्ञान मंदिर' चातुर्मास रहना होगा ।'

मैंने कहा, साहेबजी ! ज्ञान मंदिर तो केन्द्र स्थान है, पट्टक विवाद का भी वातावरण है । मेरी कहां हैसियत है ?

पूज्यपादश्री ने कहाः `तेरे में कितनी योग्यता है, मैं सब जानता हूँ ! पाटण के **'के.के. शाह'** से मेरी बात हो चूकी है । तुझे व्याख्यान आदि संभालना है ।'

मैंने कहा `साहेबजी !...।'

'अरे ! तूं क्यों चिंता करता है ? मैं बैठा हूँ न ? तूं तो मेरे हृदय में हैं ।' पूज्यपादश्री ने कहा ।

जब मैंने पूज्यपादश्री से **'तुं मारा हैयामां छे'** (`तू मेरे हृदय में है ।') ये शब्द सुने । मेरा हृदय गद्गद हो गया ।

मैंने तुरंत ही पूज्यपादश्री की आज्ञा शिरोधार्य की । पूज्यपादश्री ने अत्यंत वात्सल्य के साथ मेरे मस्तक पर वासक्षेप डाला और शुभाशिष की प्रदान की ।

पूज्यपादश्री के पुण्य प्रभाव से वह चातुर्मास बहुत ही आराधनामय व्यतीत हुआ ।

वि.सं. 2046 का समय ! जयपुर के सुश्रावक पारसमलजी ढड्ढा जयपुर शहर में जीर्णोद्धार हुए शिखरबद्ध मंदिर की प्रतिष्ठा हेतु पूज्यपादश्री को हस्तगिरि में विनती करने गए । पूज्यपादश्री का तो जयपुर पधारना शक्य नहीं था ।

पूज्यपादश्री ने तुरंत ही शिवगंज बिराजमान परम पूज्य वात्सल्य मूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजय **प्रद्योतनसूरीश्वरजी महाराजा** पर आज्ञा पत्र लिखते हुए आदेश किया कि **तपस्वी मुनिश्री जिनसेनविजयजी** एवं **श्री रत्नसेनविजयजी गोदन से जैसलमेर-जोधपुर संघ में जा रहे हैं, तो वे थोडा कष्ट उठाकर भी जयपुर प्रतिष्ठा का कार्य संभाल ले तो विशेष लाभ होगा ।** पूज्यपादश्री की आज्ञा होने से जेसलमेर के छे'री पालक संघ बाद जोधपुर से जयपूर की और हमारा उग्र विहार हुआ और पूज्यपादश्री के निर्देशानुसार जयपुर प्रतिष्ठा का कार्य संपन्न कराया । **पूज्यपादश्री की असीम कृपा से प्रतिष्ठा का कार्यक्रम बहुत ही शानदार रहा । यह सब कुछ पूज्यपादश्री के शुभ आशीर्वाद का ही फल था ।**

वि.सं. 2047 प्रथम वैशाख मास ! लगभग 5 वर्ष बाद अहमदाबाद में पूज्यपादश्री के दर्शन वंदन का लाभ मिला । पूज्यपादश्री की आज्ञानुसार सुदूर क्षेत्र-उदयपुर नगर में चातुर्मास हेतु जाने का था अतः प्रथम वैशाख सुद-3 के शुभ दिन धर्म, शासन व संयम जीवन संबंधी पूज्यपादश्री से अनेक प्रश्न किए-पूज्यपादश्री ने संतोष कारक जवाब देकर मुझे संतुष्ट किया ।

बात ही बात में मैंने पूज्यपादश्री को पूछा, **'साहेबजी, आप के नाम से ऐसी बातें चलती है कि दूसरे समुदाय के साधु साध्वीजी मिलें तो उन्हें 'मत्थएण वंदामि' भी नहीं कहना ।'**

तुरंत ही पूज्यपादश्री बोले, 'मैंने ऐसा नहीं कहा है ।' इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए बोले-'अन्य समुदाय के साधुओं के साथ औचित्यपालन में कोई बाध (आपत्ति) नहीं है ।'

लगभग 1 घंटे तक चली उस बातचीत में पूज्यपादश्री का धर्मोपदेश आदि के संदर्भ में यह विशेष स्वर था कि **'मोक्ष के लक्ष-पक्ष को कभी भूलना नहीं...और श्रोताओं को उनकी भूमिकानुसार उपदेश देते हुए उन्हें मोक्षमार्ग में आगे बढाने का प्रयत्न करना । धर्मोपदेश की पाट**

मिलने पर विशेष जवाबदारी बढ़ जाती है, उसे अच्छी तरह से निभाना ।' उस समय मुझे कल्पना भी नहीं थी कि पूज्यपादश्री के साथ यह प्रायः अंतिम वार्तालाप होगा ।

आज भी उन क्षणों को याद करता हूँ और मेरा हृदय पूज्यपादश्री के चरणारविंद में नत मस्तक हो जाता है ।

पूज्यपादश्री की **निःस्पृहता** अपूर्व कोटि की थी, उस निःस्पृहता के प्रभाव से ही पूज्यपादश्री के सान्निध्य में जो दीक्षा, प्रतिष्ठा उपधान आदि के प्रसंग होते थे वे अत्यंत ही प्रभाव शाली होते थे ।

पिंडवाडा के एक सुसमृद्ध श्रावक ने पूज्यपादश्री के जीवन संदर्भ में अपना अनुभव बतलाते हुए कहा थाः **'पूज्यपादश्री के पास में अनेकबार गया...परन्तु कभी भी पूज्यपादश्री ने व्यक्तिगत रूप से पैसे खर्च करने की कोई प्रेरणा नहीं की...कभी कोई काम नहीं बताया और एक मात्र आराधना में आगे बढने की ही प्रेरणा की । सचमूच, उनके मन धन की कोई कींमत नहीं थी । धर्म के नाम पर कोई लाखों रुपए खर्च कर दे, इतने मात्र से वे खुश नहीं थे...उनके मन तो सर्वविरति धर्म की ही कींमत थी अतः करोडों की संपत्ति के मालिक और लाखों का दान करने वाले को भी यही प्रेरणा करतेः' 'संसार के पाप में कब तक पडा रहना है ?'**

आज जहां धर्म में धन खर्च करनेवालों को बडे बडे विरूद देने की होड चली है, वहाँ पूज्यपादश्री ने कभी भी धन को इतना महत्त्व नहीं दिया । वे तो निरंतर अपनी धर्मदेशना द्वारा संयम के रागी-अनुरागी बनने की ही प्रेरणा करते । विक्रम की इक्कीसवीं शताब्दी में जिनशासन की अजोड प्रभावना करने वाले, लाखों आत्माओं को सन्मार्ग का दान करनेवाले, लाखों हृदय में प्रतिष्ठित परमाराध्यपाद परमकृपालु परम गुरुदेवश्री के पावन चरणों में यह श्रद्धांजलि पुष्प चढाते हुए यही प्रार्थना करता हूँ कि, `वे जहाँ भी हो वहां से मेरे जैसे बाल पर सतत कृपावृष्टि करते रहे...और सदैव योगक्षेम करते रहे ।'

पूज्यश्री के कुछ गुणः मेरी नजर में..

विनय एवं औचित्य गुणः पूज्यश्री के दीक्षा दाता थे-**पूज्य मुनिराज श्री मंगलविजयजी म. ।**

अपने दीक्षादाता के प्रति भी पूज्यश्री के दिल में खूब आदर और विनय था ।

आचार्य पदारूढ होने पर भी वे अपने दीक्षादाता मुनिश्री के बाहर से आने के साथ ही वे आसन पर से खडे हो जाते और **पू. मंगलविजयजी म.** की पाट से कभी भी ऊंची पाट पर नहीं बैठते थे । ऐसा ही औचित्य आपने उनके लघुभ्राता **पू.आ.श्री विजय मेरुसूरीश्वरजी महाराजा** के प्रति निभाया था । आपका उत्कृष्ट विनय आपकी ऊंची खानदानी की निशानी थी ।

शासन रक्षक सूरिदेव : एक बार किसी श्रद्धा भ्रष्ट तथा कथित **पंडित** ने **'प्रतिक्रमण के सूत्र गणधर भगवंतों के द्वारा विरचित नहीं हैं'** इस प्रकार प्रतिपादन करनेवाली एक पुस्तक लिखी ।

सद्धर्म संरक्षक **पू. आचार्य श्री कमलसूरीश्वरजी म.सा.** ने `यह पुस्तक देखी और पढी । उनके अन्तर्मन को खूब आघात लगा ।'

`अहो ! श्रद्धा संपन्न आत्माओं को गणधर भगवंतों के द्वारा विरचित सूत्रों के प्रति श्रद्धा भ्रष्ट करने का यह कैसा षड्यंत्र ! किसी भी प्रकार से इसका प्रतिकार होना ही चाहिए । अन्यथा अन्य आत्माएं मार्गभ्रष्ट बन जाएगी ।'

गोचरी के समय मांडली में पधारे पूज्य कमलसूरिजी ने सिंहगर्जना करते हुए अपने साधुओं को कहा, ***'तुम लोग मुफ्त में बनियों की रोटी खाते हो और शासन के लिए कुछ भी नहीं करते हो, देखो ! इस श्रद्धा भ्रष्ट सुधारक पंडित ने लोगों की श्रद्धा को भ्रष्ट करने के लिए यह कैसा बकवास लिखा है ? इस पुस्तक का शास्त्रीय प्रतिकार होना ही चाहिए ।'***

पूज्यश्री ने अपने साधुओं पर नजर डाली और उसके बाद मुनि

रामविजयजी पर अपनी नजर स्थिर कर बोले, `बीबा ! तुम को इस पुस्तक का जवाब देना है ।' पूज्यश्री उन्हें `बीबा' के संबोधन से पुकारते थे ।

पूज्य आचार्यदेवश्री की शुभाशिष प्राप्तकर पूज्यश्री ने अपनी कलम उठाई और **'सनातन धर्मनो साक्षात्कार'** यह पुस्तक लिखी । इस पुस्तक में पूज्यश्री ने अनेक युक्ति प्रयुक्ति और शास्त्र पाठ देकर प्रतिक्रमण के सूत्र गणधर भगवंत के द्वारा ही रचित हैं, इस सत्य को सिद्ध किया ।

गुरु हृदय में प्रतिष्ठित :– पू. आचार्य **श्री प्रेमसूरीश्वरजी म.सा.** का चातुर्मास मुंबई में था और पू. आचार्य **श्री रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.** का चातुर्मास कराड (महाराष्ट्र) में था । इस समय **पू.आ.श्री रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.** का स्वास्थ्य खराब हुआ । भयंकर टायफॉइड की बीमारी से वे खूब अस्वस्थ थे । उस समय **पू.आ.श्री प्रेमसूरिजी म.** ने कहलाया । तुम्हारी अस्वस्थता के समाचार मिले थे अतः चातुर्मास पूर्ण होते ही मैं मुंबई से विहार करके कराड आता हूँ । मुंबई से कराड करीबन 425 की.मी. अंतर है ।

अपने गुरुदेव की ओर से ये समाचार मिलते ही गुरुदेव के प्रति पूर्ण समर्पित पूज्यश्री ने कहलाया, **'गुरुदेव आप की कृपा से मेरा स्वास्थ्य जल्दी ठीक हो जाएगा' ।** आप को यहाँ आने का नहीं है, बल्कि मैं ही विहार कर शीघ्र आप के पास आ जाऊंगा ।

पू.आ.श्री प्रेमसूरीश्वरजी म.सा. के हृदय में अपने शिष्य के प्रति कितना वात्सल्य था और पू. रामचन्द्रसूरिजी म.सा. के हृदय में अपने गुरुदेव के प्रति कितना समर्पण भाव था, यह इस प्रसंग से स्पष्ट हो जाता है ।

समत्व भाव की साधना :– शासन के हित को लक्ष्य में रखकर पूज्य आचार्य भगवंत कुछ भी प्रवृत्ति करते उसमें कभी-कभार किसी व्यक्ति विशेष के विरोध आदि के कारण सफलता नहीं मिलती तो भी पूज्यश्री कभी हताश या निराश नहीं होते, बल्कि `अपना कर्त्तव्य अदा

करने का संतोष भाव को धारण करते ।'

इस संदर्भ में पूज्यश्री को पूछने पर इतना ही जवाब देते `अपना पुण्य कमजोर पडा ।'

कोई कहता, `साहेबजी ! अमुक व्यक्ति के अवरोध के कारण हमें इस कार्य में सफलता नहीं मिली ।' यह बात सुनकर भी पूज्यश्री कभी भी उस व्यक्ति के प्रति अपने हृदय में द्वेष भाव धारण नहीं करते, बल्कि उसके प्रति भी माध्यस्थ भाव ही रखते ।

पूज्यों के हृदय में प्रतिष्ठित :– वि.सं. 2013 की यह घटना हैं ।

उस समय पूज्य आचार्य भगवंत पूर्व भारत के कोलकाता-पावापुरी-राजगृही आदि क्षेत्रों में विचरण कर रहे थे । **पू.आ.श्री सिद्धिसूरीश्वरजी म.सा.** उस समय अहमदाबाद में स्थिरवास थे । कोलकाता से पधारे एक भाई ने पू. बापजी म. को वंदन किया ।

बापजी म. ने पूछा, `कहां से आए हो ?'

उसने कहा, `कोलकाता से !'

पू. बापजी म. को पता चला कि यह भाई **आ.श्री रामचन्द्रसूरिजी** का परम भक्त है । उसी समय पू.बापजी म. ने उस श्रावक को कहा, **`मारा राम ने कहेजो के हवे आ बाजु जल्दी आवे । 6-7 वरस थई गया छे, हवे मारे एने मलवुं छे ।'**

(मेरे राम को कहना कि अब जल्दी इस तरफ आए । 6-7 वर्ष हो गए, अब मुझे उनसे मिलना है ।)

पूज्य बापजी म. के हृदय में पूज्य आचार्य भगवंत का कैसा स्थान होगा कि उनके हृदय से ऐसे उद्‌गार निकले ।

उस श्रावक ने पूज्य बापजी म. का संदेश अपनी उपकारी गुरुदेव आचार्य भगवंत को कहा ! यह संदेश मिलते ही पूज्यश्री ने अपने अन्य सभी प्रोग्राम कैंसल कर अहमदाबाद की ओर विहार चालू किया और कुछ ही महिनों में बापजी म. की सेवा में उपस्थित हो गए ।

अपने हृदय में अपने गुरुदेव को बसाना तो भी आसान है, परन्तु अपने गुरुदेव या अन्य ज्येष्ठ पूज्यों के हृदय में अपना स्थान

प्राप्त करना, कितनी कठिन साधना है । परन्तु पूज्यश्री ने अपनी शास्त्रनिष्ठा और समर्पण के बल से पूज्यों के हृदय में अपना स्थान ऐसा बना दिया था कि शासनरक्षा के अनेकविध प्रसंगों में वे ज्येष्ठ पूज्य, पूज्य आचार्य भगवंत को ही आगे करते थे ।

आदेश नहीं सिर्फ उपदेश :– पूज्यश्री की तारक निश्रा में एक नहीं अनेक शासन प्रभावना के कार्य संपन्न हुए । हस्तगिरि, पावापुरी आदि अनेक तीर्थों का उद्धार हुआ है ।

राजकोट, सुरेन्द्रनगर, श्रीपालनगर, चंदनबाला, पूना आदि अनेक स्थलों में विशालभव्य जिनमंदिरों के निर्माण हुए ।

अनेक छ'री पालन संघ उपधान उद्यापन, दीक्षा महोत्सव आदि कार्यक्रम संपन्न हुए–परन्तु **कहीं भी आदेश की भाषा का नाम हीं नही !**

जैन साधु की यह एक आदर्श समाचारी है कि सत्कार्य के लिए भी सदा उपदेश की भाषा हो, परन्तु कहीं भी आदेश की भाषा का प्रयोग नहीं होता है ।

पूज्यश्री ने जीवन में साध्वाचार की इस मर्यादा का संपूर्ण पालन देखने को मिलता था ।

श्रावकों को व्रत-नियम आदि देने में भी सिर्फ उपदेश, परन्तु कभी भी आदेश नहीं, यह पूज्यश्री के जीवन का एक मुद्रालेख था ।

पूज्यश्री की इस निःस्पृहवृत्ति के कारण ही पूज्यश्री की तारक निश्रा में अकल्पनीय आराधना अनुष्ठान आदि होते थे ।

❖ **ज्ञान-साधना :–** पूज्यश्री ने सिर्फ तीन मास में संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया था ।

सिर्फ 20 दिन में आगमों की चाबी रुप-**'अनुयोग द्वार'** कंठस्थ कर उसकी दोनों टीकाएं गुरु निश्रा में पूरी पढ ली ।

सिर्फ 1 मास में 36000 श्लोक प्रमाण त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र ग्रंथ का वांचन किया था ।

❖ उपमिति भवप्रपंचा कथा करीबन 21 बार पढ़ी-पढ़ाई थी ।

कई बार 45 आगम सटीक पढ़े थे । जीवन के उत्तरार्ध में डोली में बैठना पडा तब विहार मार्ग में 45 आगम सटीक पढ़े थे ।

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृष्ठ नं.
1.	आस्तिक कौन ?	1
2.	भावना, परिणाम और प्रवृत्ति	3
3.	विरति की महानता	4
4.	अतिक्रम-व्यक्तिक्रम-अतिचार और अनाचार	5
5.	सम्यग्दृष्टि की भावना	7
6.	मुख्य कर्त्तव्य	9
7.	धर्म अर्थात् वस्तु का स्वभाव	11
8.	संसार दुःखमय है	12
9.	धर्मप्रेम	13
10.	संयमी ही सुखी	14
11.	जिनागम-महिमा	15
12.	संसार निःसार है	16
13.	दोषित में गुण का आरोप भयंकर	17
14.	दृष्टांत न ले	18
15.	विषयजन्य सुख दुःखदायी हैं	19
16.	संसार का सुख !!	20
17.	गुण और गुणाभास	21
18.	चार अनुयोग	22
19.	चरण करणानुयोग की महत्ता	23
20.	धर्म से क्या मांगे ?	24
21.	लोक प्रवाह छोडे	25
22.	सम्यग्दर्शन टिकाना कठिन है	26
23.	अधीनता	27
24.	आरंभ से बचने के लिए ज्ञान	28
25.	मूर्च्छा उतारने के लिए दान	29
26.	अर्थ-काम की देशना	31
27.	मुनि, मात्र धर्मलाभ दे	32
28.	मानव जीवन की महत्ता	33
29.	अनुष्ठान के प्रकार	36
30.	आचार शुद्धि अनिवार्य है	37
31.	मुनि का धर्मदान	38
32.	ज्ञान का फल	39
33.	सच्चा सुख	40
34.	संपत्ति से भय	42
35.	आत्म-जागृति	43
36.	सम्यग्दृष्टि की विचारधारा	44
37.	मर्यादा न तोडे	45
38.	गुरु समर्पण की महिमा	46
39.	सम्यग्दर्शन का स्वरूपदर्शन	52
40.	मुनि को मार्गदर्शन	56
41.	ब्रह्मचर्य-व्रत	59
42.	युवावस्था का सदुपयोग करें	64
43.	यात्रा करे, भवजल तरे	66

क्र.	विषय	पृष्ठ नं.
44.	ज्ञान का उपयोग	70
45.	बडा पाप कौनसा ?	71
46.	योगी और भोग	72
47.	आस्तिक्य	73
48.	निर्जरा प्रधान जीवन	74
49.	सम्यक्त्व और मोक्ष	75
50.	दर्शन से ज्ञान का उद्योत	76
51.	सम्यक्त्व	77
52.	सम्यग्दर्शन से सकाम निर्जरा	78
53.	सम्यग्दृष्टि की दृष्टि	79
54.	प्रभु शासन में मर्यादा	80
55.	संयम और मोक्ष	81
56.	देव भव और मनुष्य भव	83
	प्रवचन-1	
57.	आत्मा ही संसार आत्मा ही मोक्ष !!	84
	हृदय में पाप	88
	सुख की इच्छा पापोदय से	96
	संसार सुख की इच्छा पर द्वेष	97
	संसार-चक्र	98
	संसार अखरता है !	100
	परमेष्ठि-बहुमान	101
	वीतराग की शरणागति	101
	वीतराग की शरणागति	104
	कर्म प्रति कैसा भाव ?	105
	भूतकाल की भूल का पुनरावर्तन	106
	मोहनीय कर्म के साथ गाढ मैत्री	107
	धर्म के साथ संबंध	108
	श्रमण-श्रावक की मान्यता एक है ।	109
	प्रवचन-2	
58.	आत्म-धर्म	111
	भविष्य न भूले	112
	हितैषी की ओर सद्भाव	113
	आत्म-रोग की चिंता	114
	चार उत्तम भावनाएँ	116
	मैत्री भावना	116
	प्रमोद भावना	117
	करुणा भावना	117
	माध्यस्थ्य भावना	118
	ध्येय समझो	118
	शिष्टपुरुषों के अधीन बनो	120
	काल का चक्र	121
	प्रवचन-3	
59.	सच्चा धर्म	124
	मोक्ष का आशय	127
	जैन शासन में मोक्ष	130
	भगवान के बन जाओ	132

1 आस्तिक कौन ?

परम उपकारी सर्वज्ञ भगवंत कथित तिर्यंच और नरकगति के स्वरुप तथा उस गति को प्राप्त करनेवाले कारणों में सच्ची श्रद्धा पैदा हो जाय तो नास्तिकता का नाश हुए बिना न रहे ।

'आत्मा, पुण्य, पाप, परलोक आदि हैं'-इतना बोलने मात्र से ही यदि सम्यग्दृष्टि बन जाते हो तब तो सभी बन गए होते परंतु ऐसा नहीं है ।

पुण्य, पाप, स्वर्ग और नरक का सच्चा ख्याल आ जाय तो आत्मा कदम कदम पर पाप से कंपित हुए बिना न रहे ।

'दुर्गति का कारण पाप है'-ऐसा मानने के बाद वह पाप में आनंद कैसे मान सकता है ? पाप के कारणों को उपादेय रुप माननेवाला व्यक्ति कदाचित् आत्मा आदि को मानता हो तो भी वह नाममात्र का ही आस्तिक है, परंतु वास्तव में आस्तिक नहीं है ।

आत्मा, पुण्य, पाप, परलोक आदि नहीं है-ऐसा कहनेवाले को तो समझाया जा सकता है परंतु जो आत्मा आदि के अस्तित्व को मानकर भी प्रवृत्ति अलग ही करता हो उसे किस प्रकार बचाया जाय ? ऐसे व्यक्तियों की व्रत आदि क्रिया भी शुद्ध क्रिया नहीं है । परंतु दांभिक ही है । ऐसे दांभिक व्रतधारियों के लिए न्यायविशारद न्यायाचार्य **महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी** ने लिखा-

'दम्भेन व्रतमास्थाय, यो वाञ्छति परं पदम् ।
लोहनावं समारुह्य सोऽब्धेः पारं यियासति ।।'

जो आत्मा दंभपूर्वक व्रत का स्वीकार कर परमपद की इच्छा करती है, वह आत्मा वास्तव में लोहे की नाव पर चढकर सागर को पार करने की इच्छा करती है ।

जिसके हृदय में पाप का भय नहीं है, जो आरंभ-समारंभ की बात से कंपित नहीं होता है, जो आरंभ-समारंभ से दूर नहीं रहता है, जगत् को बचाने के लिए प्रयत्न नहीं करता है, बल्कि आरंभ-समारंभ की पुष्टि करता हो, उसे आस्तिक कौन कहेगा ?

कदाचित् कर्मयोग से न छोड सके तो भी माने कि-मैं पामर हूँ । परंतु जो ऐसा कहता हो कि, `आरंभ-समारंभ के बिना चले ही नहीं, तो वह आस्तिक कैसे ?

प्रतिदिन आत्मा को पूछे, `कुछ अंदर उतरा या नहीं ?' तेरा अभ्यास संसार की ओर ज्यादा है, या ज्ञानी कथित मार्ग की ओर ? यदि ज्ञानी के कथन की ओर झुकाव हो तो समझे कि कुछ पाया है और यदि संसार की ओर ही झुकाव रहता हो तो समझे कि अभी तुं ठग लगता है ।

राम-वाणी

दु:खी को देख जो दया आती हैं, वह द्रव्य दया है और
धर्महीन को देख जो दया आती हैं, वह भाव दया है ।

राम-वाणी

स्वयं की प्रशंसा और दूसरों की निंदा ये दो
भवाभिनंदी जीव के लक्षण है ।
भवाभिनंदी अर्थात् संसार में ही मस्ती माननेवाला
जीव, ये 'दो दोष' जीव को
संसार में भटकानेवाले है ।

2 भावना, परिणाम और प्रवृत्ति

भावना, परिणाम और प्रवृत्ति में बडा अंतर है । व्यवहारनय प्रवृत्ति को मुख्य मानता है । प्रवृत्ति की उपेक्षा कर सिर्फ परिणाम और भावना मानकर पूजा चालू कर दोगे तो दुनिया में दंभी लोग भी कहेंगे कि हमारे में परिणाम और भावना है ।

इसीलिए यह बात कह चूका हूँ कि **'विषय का विराग, कषाय का त्याग और गुण का अनुराग तथा इन तीनों क्रिया में अप्रमत्त अवस्था जिस धर्म में हो अथवा जिस क्रिया से आए, वह मोक्ष सुख का उपाय है ।'**

विषय का विराग, कषाय का त्याग और गुणों का अनुराग, इतना कहकर ज्ञानी महापुरुष रुके नहीं हैं, बल्कि उन तीनों क्रिया में अप्रमत्तता की बात भी कही है ।

जिसमें विषय का विराग होगा, उसमें विषय-विराग की क्रिया भी अवश्य होगी । वह व्यक्ति विषयों में आसक्ति पूर्वक प्रवृत्ति कैसे कर पाएगा ?

जहाँ कषाय की मंदता होगी,
वहाँ क्षमा आदि गुण अवश्य दिखाई देंगें ।
जहाँ गुणों का अनुराग होगा,
वहाँ सद्-असद् का विवेक अवश्य होगा ।

क्रिया एक ऐसी वस्तु है, जहाँ अच्छे-अच्छे की कसौटी हो जाती है । भावना, परिणाम और प्रवृत्ति को एक मत मानो ।

मुनि आचार से सर्वविरतिधर हैं और सम्यग्दृष्टि श्रावक हृदय से सर्वविरति को चाहनेवाला है । परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि उसमें सर्वविरति आ गई है । श्रावक की भावना सर्वविरति की ओर ढली हुई है, यदि ऐसा न हो तो वह श्रावक भी नहीं और सम्यग्दृष्टि भी नहीं ।

3 विरति की महानता

श्री कृष्ण महाराजा में क्षायिक सम्यक्त्व था । उन्होंने नेमिनाथ प्रभु के 18000 मुनियों को वंदन किया था ।

क्या उन सभी में क्षायिक सम्यक्त्व था ?

नहीं !

स्वयं क्षायिक सम्यग्दृष्टि होने पर भी छोटे से छोटे मुनि को भी उन्होंने वंदन किया था । क्योंकि सम्यक्त्व अलग चीज है और विरति अलग चीज है, इस बात को वे अच्छी तरह से समझते थे ।

क्षायिक सम्यक्त्व में वापस चले जाने का भय नहीं है । मिथ्यात्व के पुद्गलों के आवागमन का भय नहीं है । आत्मा को मोहित होने का प्रश्न नहीं है, क्योंकि भय का कारण नष्ट हो गया है । जब कि क्षयोपशमवाले सम्यक्त्व में भय रहा हुआ है । इस कारण आत्मा के मोहित होने की संभावना है । वह गुण चला भी जा सकता है, परंतु चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम से जो गुण मुनि में पैदा हुआ है, वह भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि में कहाँ ? यह बात जिनेश्वर देव के मार्ग को समझनेवाले अच्छी तरह जानते हैं ।

परंतु जिसे मनगढंत बाते ही करनी हो, उसे समझाना कठिन है ।

क्षायिक समकिती कभी मानता ही नहीं है कि मेरा सम्यक्त्व ऊंचा है, अतः क्षायिक समकित जिनमें न हो, ऐसे संयमधर को मैं वंदन नहीं करुं । वह तो हृदय के बहुमानपूर्वक संयमधर के चरणों में झुकता है ।'

वासुदेव के काल में श्री तीर्थंकर परमात्मा को छोडकर अन्य किसी मनुष्य में वासुदेव जितना शारीरिक बल नहीं होता है । श्रीकृष्ण महाराजा तो नेमिनाथ प्रभु के छोटे से छोटे साधु को भी वंदन करते समय यही सोचते थे कि मैं पामर हूँ और ये बहादुर है । लाखों सैनिकों के बीच निर्भयतापूर्वक अडिग रहनेवाले श्रीकृष्ण महाराजा कहते थे कि, `लाखों सैनिकों से लडने के बजाय संसार में विषयों से विरक्त रहने में सच्ची बहादुरी है ।'

4

अतिक्रम-व्यक्तिक्रम-अतिचार और अनाचार

किसी ने व्रत लिया हो कि `मैं अमुक वस्तु नहीं खाऊंगा ।' अब उसे खाने की इच्छा हो जाय तो उसे **अतिक्रम** कहते है, `वह खाने के लिए जब तक खडा नहीं होता हो, तब तक **अतिक्रम** । खाने के लिए खडा हो जाय तो **व्यतिक्रम** । खाने की चीज हाथ में न ले तब तक **व्यतिक्रम** और हाथ में ले ले तो **अतिचार** ।' जब तक खाए नहीं तब तक **अतिचार** और खा जाय तो **अनाचार ! अनाचार** अर्थात् व्रत भंग ।

अतिक्रम, व्यतिक्रम तथा अतिचार में व्रत भंग नहीं है । यद्यपि उसमें मन चला गया, फिर भी व्रत भंग नहीं । अनाचार के सेवन में व्रत भंग होता है ।

इसी प्रकार भावना, परिणाम और प्रवृत्ति में अंतर है ।

सामान्य इच्छा को **भावना** कहते है । उत्कट इच्छा को **परिणाम** कहते है । परिणाम आने पर प्रायः **प्रवृत्ति** हुए बिना नहीं रहती है । सम्यग्दृष्टि को सर्वविरति की भावना ही कही है ।

गुलाम कौन ?

अनंत तीर्थंकर और गणधरों ने जिस दीक्षा का सेवन किया, जिसके पालन से अनंत आत्माओं ने मुक्ति प्राप्त की, इस कारण उपकारी महापुरुषों ने भी यही कहा है कि **दीक्षा के बिना आत्मा को इष्ट ऐसे एकांतिक और आत्यंतिक सुख की प्राप्ति नहीं है ।'** ऐसी दीक्षा के प्रति अभ्यंतर अभिरुचि पैदा न हो तो यह हमारा दुर्भाग्य ही गिना जाएगा ।

आत्मा के उद्धार के विषय में उपेक्षा न करो । क्या दो घडी की सामायिक करनेवाली आत्मा को जीवन पर्यंत सामायिक करने की भावनी नहीं होगी ?

लोगों के परलोक को सुधारने के लिए जैन शासन का सर्जन हुआ है । इस लोक को नियमित-नियंत्रित करने और परलोक को सुधारने के लिए ही इस शासन की स्थापना है । परंतु अनीति, प्रपंच, झूठ, पाप, विषय-वासना, आरंभ-समारंभ आदि बढाने या, विकसित करने की अनुमोदना करने के लिए श्री जैन शासन की स्थापना नहीं है ।

जैन शासन के स्थापकों ने भी पहले संयम लिया-फिर केवलज्ञान न हो तब तक जमीन पर बैठे भी नहीं ! खडे ही रहे ! सोने की तो बात ही नहीं । कभी बैठे तो भी या तो वीरासन में या उत्कटासन जैसे आसन में ।

श्री ऋषभदेव स्वामी को छद्मस्थ अवस्था में अलग अलग समय में जो नींद आ गई, उस समय को गिना जाय तो मात्र एक अहोरात्र जितना काल होगा ।

साढे बारह वर्ष के छद्मस्थ काल में भगवान महावीर परमात्मा का निद्राकाल एक मात्र अन्तर्मुहूर्त ही था ।

महिने, दो महिने, चार महिने और छ महिनें के उपवास किए, परंतु पारणें का मात्र एक ही दिन ।

पारणे में जहाँ गए वहाँ दाता हाथ में जो डाले, वह वापर ले-फिर वापस तपश्चर्या का प्रारंभ ! साढे बारह वर्ष में श्री महावीर प्रभुने मात्रा 349 पारणे किए, एक वर्ष जितने दिन भी नहीं ।

छत्तीस घंटे का उपवास करनेवाले श्रावक को पारणे में आधा घंटा लेट हो जाय तो, उसके मुंह में से कौन-से शब्द निकलेंगे ? ``अच्छा हुआ, आधा घंटे की तपश्चर्या बढ गई ।'' यही भावना होनी चाहिये ।

तपश्चर्या तो परलोक की तरह इसलोक में भी उपकारी है । परंतु इस लोक के उपकार के लिए मैं आपको तपस्वी बनाना नहीं चाहता हूँ, इसलिए बोलता नहीं हूँ । इस लोक के लिए तो आप सब कुछ करने के लिए तैयार हो । वैद्य, डॉक्टर, घर, बाजार में हर तरह की गुलामी करते हो न ! सिर्फ धर्म व शास्त्र की गुलामी ही पसंद नहीं है ।

परमतारक श्री वीतरागदेव की आज्ञा और वीतराग-उपदिष्ट त्याग मार्ग जिसे पसंद नहीं पडता हो, उसके जैसा गुलाम इस दुनिया में कोई नहीं है ।

5

सम्यग्दृष्टि की भावना

सम्यग्दृष्टि आत्मा की भावना कैसी होनी चाहिये, यह पता है ? प्रधानता की अपेक्षा सम्यक्त्व का पहला लक्षण उपशम है । उसका स्वरुप बताते हुए महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी गणिवर गुजराती भाषा की सज्झाय में फरमाते हैं-

'अपराधीशुं पण नवि चित्त थकी, चिंतवीए प्रतिकूल,
सुगुण नर ! श्री जिन भाषित वचन विचारीए !'

उपरोक्त भावना से स्पष्ट ख्याल आ जाता है कि, जिनेश्वर देव के मार्ग में रंगी हुई आत्मा और निरंतर जिनेश्वर देव की आज्ञा का विचार करनेवाली आत्मा अपने अपराधी का भी कभी खराब नहीं सोचती है । वह आत्मा तो अपने दुश्मन का भी हित ही चाहती है ।

आत्मा को शुद्ध सम्यग्दृष्टि बनाना हो अथवा शुद्ध सम्यग्दृष्टि के रुप में रहना हो, शुद्ध सम्यग्दर्शन की आराधना करनी हो अथवा प्रभु-शासन में स्थिर रहना हो, उन्हें इस भावना को दृढ करना चाहिये ।

पाप किसी को छोडता नहीं है । जो पाप के योग से स्वयं मर रहा है, उसे मारने का विचार धर्मात्मा कभी नहीं कर सकता । उसे तो उसका पाप ही मार रहा है, अतः उसकी दया खानी चाहिये । यही सज्जन का कार्य है ।

आर्त्त और रौद्रध्यान न आ जाय, इसके लिए सम्यग्दृष्टि को सावधानी रखनी चाहिये । सम्यक्त्व की प्राप्ति के साथ ही दुर्ध्यान के परिणाम मंद होने लगते हैं, परंतु यह कब हो सकता है ? यदि सम्यक्त्व की भावना में हृदय ओतप्रोत बने तो ! इस भावना का अभाव हो तो आत्मा भयंकर कर्मबंध कर लेती है, अतः इसके लिए सावधानी जरुरी है ।

दुश्मन को सुधारने की क्रिया करते समय भी हृदय में भावना कैसी हो ? माता बच्चे को मारती है, परंतु बच्चे को रोते देख, घर में जाकर वह स्वयं रोती है ।

माँ जब मारती है, तब भी उसके हृदय में तो हितबुद्धि ही होती है। बालक के प्रति माँ के हृदय में द्वेषभाव नहीं होता है।

सम्यग्दृष्टि आत्मा किसी को सुधारना चाहती है तो उसका हृदय भी माँ जैसा होता है। यदि कोई व्यक्ति अपने ही हाथों से अपने ही गाल पर तमाचा लगाएगा तो कैसा लगाएगा ? बहुत धीरे से न !

क्योंकि स्वयं के प्रति ममत्वभाव है। प्राणीमात्र के प्रति जिसके दिल में हितबुद्धि है, वो ही व्यक्ति दूसरे का भला कर सकता है,बाकी तो अयोग्य ही है।

सम्यक्त्व की भावना में संपूर्ण विश्व के प्रति मैत्रीभाव है। एकेन्द्रिय जीवों के प्रति भी सम्यग्दृष्टि के हृदय में मैत्रीभाव होता है। यह भावना चली जाय तो सब कुछ उड जाएगा।

मैत्री अर्थात् Shake Hand शेक हेंड आदि बाह्य आडंबर करना यह नहीं, बल्कि दूसरे का हित चिंतन करना है।

दूसरे का हित करने के लिए शेकहेंड करना भी पडे, कदाचित् न भी करना पडे। दूर भी खडा रहे, परंतु भावना शुद्ध चाहिये।

अयोग्य भावना का अंकुर भी पैदा न हो जाय, यह सावधानी सम्यग्दृष्टि अवश्य रखता है। भलाई के नाम पर गलत भावना आ जाय तो कर्मसत्ता छोडनेवाली नहीं है, कैसी भी परिस्थिति आ जाय फिर भी भावना तो यही होनी चाहिये कि `दुश्मन का भी भला हो-दुश्मन का भी भला मैं कब करुँगा ?'

राम-वाणी

'मैं शरीर नहीं हूँ तथा शरीर मेरा नहीं है'

ऐसी मान्यता धारण करनेवाला जीव ही
अध्यात्म का अधिकारी कहलाता है।

मुख्य कर्त्तव्य

टीकाकार महर्षि फरमाते हैं कि-

इह हि राग-द्वेष-मोहाद्यभिभूतेन सर्वेणापि संसारिजन्तुना शरीर मानसानेकांतिकटुकदुःखोपनिपातपीडितेन तदपनयनाय हेयोपादेयपदार्थ परिज्ञाने यत्नो विधेयः ।

इस संसार में राग-द्वेष और मोहादि से अभिभूत बने हुए और उसी कारण शारीरिक और मानसिक अति कटु दुःखों के कारण पीडित बने हुए सभी संसारी जीवों को हेय (त्याग करने योग्य)तथा उपादेय (स्वीकार करने योग्य) पदार्थों के ज्ञान में यत्न करना योग्य है ।

यह बात कहकर टीकाकार महर्षि स्पष्ट करते है कि राग, द्वेष और मोह-ये तीनों संसार के मूल है । उनसे पराभूत व्यक्ति के जीवन में अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख आए बिना रहते नहीं है ।

उन भयंकर दुःखों से मुक्त होने की जिन्हें अभिलाषा हो, उन्हें हेय और उपादेय पदार्थों का ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये । इसके सिवाय उन दुःखों से मुक्त होने का अन्य कोई उपाय नहीं है ।

हेय-उपादेय के ज्ञान बिना राग-द्वेष और मोह का नाश नहीं होता है और उसके नाश बिना दुःख भी दूर नहीं होता है । दुःख से छूटने का यही एक श्रेष्ठ उपाय है ।

राग-द्वेष और मोह के अधीन बनी आत्मा शारीरिक और मानसिक अनेक दुःखों से पीडित होती हो, इसमें आश्चर्य पाने जैसा नहीं है ।

शास्त्रकार कहते है कि, इन तीनों की उपस्थिति में दुःख आने ही वाला है । 'मेरा-मेरा' करना और दुःख से भागना, यह 'न भूतो न भविष्यति ।'

रागी, द्वेषी और मोहान्ध कभी सुखी नहीं हो सकते । **रागी और सुखी, द्वेषी और सुखी, मोहान्ध और सुखी-यह कभी नहीं हो सकता ।**

क्षणभर के लिए सुख दिखाई देता हो, फिर भी वह सुख नहीं है, क्योंकि वह सुख, परिणाम में दुःख लानेवाला है ।

खुजली हो तब खुजलाते समय आनंद आता है, परंतु क्या वह सुख है ? नहीं !

क्षणिक सुख देनेवाली वस्तु में सुख मानना यही मोह है । मोह का स्वरुप ही ऐसा है, जो क्षणिक सुख में शाश्वत सुख का आभास कराये । विद्वानों को भी यह मोह मोहित कर देता है ।

राग-तीन प्रकारे के हैं-काम राग, स्नेह राग और दृष्टि राग ! इस तीनों में दृष्टिराग अत्यंत ही पापी है और वह सत्पुरुषों के लिए भी दुरुच्छेद है ।

थोडी सी कठिनाई से काम राग और स्नेह राग को दूर किया जा सकता है, परंतु दृष्टिराग का उच्छेद तो सत्पुरुषों के लिए भी कठिन है अर्थात् सत्पुरुष भी उसके जाल में फंस जाते है ।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा ने कहा है-

'कामराग-स्नेहरागावीषत्करनिवारणौ ।
दृष्टिरागस्तु पापीयान् दुरुच्छेदः सतामपि ।।'

'काम राग और स्नेह राग को तो सरलता से रोका जा सकता है, परन्तु पापी ऐसे दृष्टिराग को तो सत्पुरुष भी बडी कठिनाई से उच्छेद कर पाते है ।'

भावना आदि द्वारा काम राग और स्नेह राग को दूर किया जा सकता है, परंतु कुदर्शन पर रहा दृष्टिराग तो इतना भयंकर है कि सत्पुरुष भी उसमें से छूट नहीं पाते है । इस कारण किसी भी गलत मान्यता के अधीन न बन जाए, इसके लिए खुब सावधानी रखनी चाहिये ।

अपने जीवन को सफल बनाना हो तो हमें सिर्फ किसी व्यक्ति के ही अनुयायी नहीं बनना चाहिये और न, किसी कुमान्यता का गुलाम बनाना चाहिये ।

राम-वाणी

मजा मस्ती से सुख का भोग करोगे तो पाप बंध होगा
और
मस्ती से दुःख सहन किया तो पाप खाक हो जाएगा ।

7 धर्म अर्थात् वस्तु का स्वभाव

वस्तु के स्वरुप को जानकर वस्तु को मानना चाहिये । अन्य सभी धर्म तो साधन धर्म है, जब कि अंतिम धर्म तो **'वत्थु सहावो धम्मो'** ही है ।

शरीर के स्वभाव का ख्याल हो तो वहाँ मोह कैसे हो ? शास्त्र व अनुभव कहता है कि-'शरीर परिणाम से दुर्बल है, नाशवंत है,-सडना-गिरना-नाश होना यह उसका स्वभाव है ।

शरीर को कितना ही अच्छा खिलाओ, दस बार स्नान कर साफ करो, तेल-इत्र आदि लगाओ-कस्तुरी का लेप करो, पुष्टिकारक पदार्थ खाओ, परंतु अंतिम परिणाम क्या ?

वस्तु के स्वरुप को जान ले तो तकलीफ न पडे ! किसी भी उपाय से इस शरीर को संभालो, परंतु अंतिम परिणाम क्या ? इस बात का पता हो तो शरीर के लिए पाप होंगे ? नहीं !

महर्षि काकंदी छट्ठ के पारण छट्ठ करते थे । पारणे में आयंबिल करते थे । मक्खी भी बैठना न चाहे, ऐसा आहार आयंबिल में लेते थे । निर्मम भाव से जो कुछ मिलता, संयम पालन के लिए उसका उपयोग करते थे । वे आहार भी धर्म की साधना के लिए करते थे ।

परंतु जो शरीर से चौबीस घंटे पाप करता हो और कहे कि 'धर्म के लिए शरीर का पोषण करते है ।'-तो उन्हें कैसा कहेंगे ?

दुकान खोली वह दान देने के लिए या व्यापार के लिए ? दान की भावना हो तो कितनी ? नाम मात्र की । हाँ ! यह ठीक है-जितना दान दिया, उतनी लक्ष्मी सफल हुई ! परंतु क्या दुकान दान के लिए है-ऐसा कह सकते है ?

लक्ष्मी आदि की मूर्च्छा न हो तो संसार में रहे भी क्यों ? **'धर्म के लिए लक्ष्मी की इच्छा तो निषिद्ध ही है । लक्ष्मी हो तो सदुपयोग करने की छूट है, परंतु सदुपयोग के नाम पर पाप से पैदा करने की छूट नहीं है,** यह तो बिना कारण साफ कपडे को धोने के लिए मैला करने जैसी बात है ।'

8 संसार दुःखमय है ।

राग, द्वेष और मोह से पीडित संसारी जीवों को शारीरिक और मानसिक यातनाएँ सहन करने के लिए तैयार रहना चाहिये, क्योंकि रागादि के योग में दुःख सिवाय कुछ नहीं है ।

संसार तो दुःखमय, दुःखफलक और दुःख की परंपरावाला है, इसमें शंका को कोई स्थान नहीं है । इसी कारण 'संसार छोडने जैसा है' ऐसा कहना पडा है-और वह भी सुख के लिए ही ।

'सुख चाहिये' इस बात में दो मत नहीं है तो फिर-'संसार छोडने जैसा है' इस बात में दो मत कैसे हो सकते है ?

संसार का संबंध छूटे बिना आत्मा को कभी भी शाश्वत सुख की प्राप्ति हो नहीं सकती, यह बात सुनिश्चित है ।

ज्ञानी पुरुष तो संसार को दुःखमय कहते ही है, परंतु संसार में रहे हुए भी 'संसार में सुख है'-ऐसा भारपूर्वक नहीं कह सकते है । उनका अनुभव भी कहता है कि, संसार में सुख नहीं है ।

'संसार भयंकर है' इस बात का कोई भी विचक्षण पुरुष इन्कार नहीं कर सकता है । संसार में आसक्त व्यक्ति कुछ भी कहे, परंतु आत्मा को पूछोगे और विचार करोगे तो स्पष्ट रुप से ख्याल में आएगा कि यह संसार दुःखमय, दुःखफलक और दुःख की परंपरावाला है ।

सभा में से : *संसार को छोडने से भी सुख कहाँ दिखता है ?*

पूज्यपादश्री संसार छोडा ? संसार छोडोगे तो पता चलेगा ।

'शक्कर का स्वाद कैसा ?, तो कहना ही पडेगा-'खाकर देखो ।'

दीक्षा का सुख भी अनुपम है । अनुभव करके देखोंगे तो मालूम पडेगा ।

मोक्ष का अनंत सुख कैसा है ? तो ज्ञानियों ने कहा है-संसार के सुख से अनंत गुणा है, अनुपम हैं, वचनातीत है, एकांतिक और आत्यंतिक है । संयम का सुख जानना हो तो यहाँ आकर देखो ! हाँ ! ममत्व भाव छोडकर आना ।' संसार की बदबू छोडोगे तभी संयम की खुश्बू का अनुभव हो सकेगा ।

9

धर्मप्रेम

संसार से जितनी भीति (भय) होगी उतनी ही धर्म से प्रीति होगी । जितने प्रमाण में संसार का भय होगा, उतने ही प्रमाण में धर्म से प्रेम होगा । जितने अंश में दुर्गंध जाएगी, उतने अंश में सुगंध आएगी । जितने प्रमाण में वचन में एकता आएगी, उतने प्रमाण में विश्वास पैदा होगा । जितने अंश में असंयम जाएगा, उतने अंश में संयम आएगा ।

वास्तव में देखा जाय तो संसार की असारता समझ में आए बिना धर्म समझ में नहीं आता है । संसार की असारता का ख्याल आते ही व्यक्ति धर्म मांगने जाएगा ।

आत्मा को आत्म-सुख का भान नहीं है, इसीलिए संसार में सुख मानते है । विषय के त्याग के सुख का अनुभव नहीं है, इसीलिए विषय में सुख दिखता है ।

जो तपस्वी एकासने के साथ एकांतर उपवास करता है अर्थात् अडतालीस घंटे में एक ही बार खाता है, ऐसे तपस्वी को दिन में दो बार खाने का कहोगे तो वह मना कर देगा और यही कहेगा कि, `मुझे तो 48 घंटे में एक से अधिक बार नहीं खाने में ही मजा आती है ।' परंतु यह बात खाने में लालचु व्यक्तियों को समझ में नहीं आएगी ।

ज्ञानी महापुरुषों के साथ वैदक शास्त्र भी कहता है-`रस रोग का कारण है ।'

रस क्या है ? रस अर्थात् विगइ । यह विगइ रोग का कारण है । शरीर को निरोगी रखना हो तो भी रस से विरक्त रहना । ये विगइयाँ बलात्कार से भी आत्मा को दुर्गति में ले जाती है । विगइयों के रसिक को दुर्गति में नहीं जाना हो तो भी ये विगइयाँ उसे जबरदस्ती ले जाती है ।

असंयम पर प्रीति घटेगी तभी संयम का सुख समझ में आएगा और संयम पर प्रीति जगेगी । संसार से भय लगे बिना धर्मप्रेम नहीं जगेगा, इसीलिए ज्ञानी पुरुष सर्व प्रथम संसार की असारता बतलाते है ।

10

संयमी ही सुखी

सभी ज्ञानी पुरुषों ने संसार को दुःखरुप कहा है, इतना ही नहीं, दुःखफलक (दुःख के फलवाला) तथा दुःख की परंपरावाला कहा है, अतः संसार की परंपरा भी दुःख ही है ।

जरा सोचे, `अपनी आत्मा को दुःखी करनेवाला कौन ?' कहना ही पडेगा `राग, द्वेष और मोह ।'

जो इन तीन के अधीन रहना चाहता हो, उसे दुःख सहन करने के लिए तैयार रहना चाहिये और जिसे दुःख पसंद न हो, उसे इन तीन से बचने के लिए प्रयत्न करना चाहिये । यह बात सम्यग्दृष्टि आत्मा के हृदय में सुनिश्चित होती है ।

`रागी, द्वेषी और मोहमग्न आत्मा दुःखी हैं'-इस कथन से ज्ञानी आत्मा को कोई आश्चर्य नहीं होता है ।

संसार में एकमात्र सुखी संयमी ही हैं, क्योंकि उसे सतानेवाली चीज इस संसार में कोई नहीं है ।

संसार क्या है ? राग, द्वेष और मोह ! आधि, व्याधि और उपाधि जहाँ हो वहाँ सुख नहीं । **आधि** अर्थात् मानसिक पीडा ।

व्याधि अर्थात् शारीरिक पीडा और **उपाधि** अर्थात् संसार की तृष्णाओं से अतृप्ति ।

जहाँ उपाधि होगी, वहाँ आधि, व्याधि आएगी ही । आधि, व्याधि की जननी ही उपाधि है ।

उपाधि नहीं होगी तो आधि-व्याधि भी नहीं आएगी, उपाधि से छूटना, उसीका नाम संयम है ।

उपाधि की माता ही आधि-व्याधि को उत्पन्न करती है । उपाधि की ममता छोडनेवाले को आधि-व्याधि आएगी नहीं, कदाचित् आ गई तो उसे हैरान नहीं करेगी ।

संयमी आत्मा ने उपाधि छोड दी अतः आधि तो आएगी ही नहीं, कदाचित् कर्मयोग से व्याधि आ भी गई तो भी उसके मन पर कोई असर नहीं होगा, बल्कि वह आत्मा कर्मक्षय ही करेगी ।

11

जिनागम-महिमा

भगवानश्री हरिभद्रसूरीश्वरजी जैसे भी कहते हैं कि-`हमारे जैसे अनाथ के लिए यदि कोई नाथ हो तो वह जिनागम है । आज तक हम अनाथ थे, अब जिनागम की प्राप्ति हो गई, अतः हम सनाथ हो गए, अतः हमें कोई भय नहीं है ।

वे कहते हैं -

`कथं अम्हारिसा जीवा, दुसमा-दोसदूसिया ।
हा ! अणाहा कहं हुंता, जइ न हुंतो जिणागमो ।''

`यदि जिनागम नहीं होते तो दुःषमकाल से दूषित हमारे जैसे अनाथ जीवों की क्या हालत होती ?'

ऐसा क्यों कहा ?

`ज्ञानी महापुरुषों ने जो गुण कहे है, उन सब गुणों से यह आगम-यह तीर्थ विशिष्ट है ।' ऐसी उनकी दृढ मान्यता थी ।

इसका नाम सम्यग्दर्शन है !

सभी सम्यग्दृष्टि द्वादशांगी के धारक होते हैं, ऐसा नहीं है । सब कुछ जानने के बाद ही सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा भी नहीं है ।

सम्यग्दर्शन वह चीज हैं, जिसके प्रकटीकरण के बाद सत्य की ओर सहज रुचि और असत्य की ओर सहज अरुचि होती है ।

ज्ञानियों की कही गई बहुतसी वस्तुएँ ऐसी हैं, जहाँ बुद्धि नहीं चलती हो, परंत सम्यग्दृष्टि आत्मा, सम्यग्दर्शन के योग से `वह सब सत्य है'-ऐसा मानती है ।

दुनिया में बहुत से ऐसे पदार्थ हैं, जो दिखते नहीं हैं, जिनका अनुभव नहीं होता है, परंतु सम्यग्दृष्टि निःशंक रुप से मानता है कि ज्ञानियों ने जैसा था और जैसा हैं, वैसा ही हमारी भलाई के लिए कहा है, अतः उसमें शंका को स्थान नहीं है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा को जिनेश्वर देव के प्रति, उनके अनुयायी निर्ग्रंथों के प्रति तथा उनके शासन के प्रति ऐसा ही सद्भाव होता है ।

12 संसार निःसार है

एक ही समय में बरसता हुआ पानी, यदि स्वाति नक्षत्र में छीप के मुंह में गिरे तो मोती हो जाता है । साँप के मुँह में गिरे तो जहर हो जाता है । उपजाऊ भूमि में गिरे तो फलद्रुप बनता है और बंजर भूमि में गिरता है तो कीचड रुप बनता है ।

वहाँ दोष किसका ? पानी का या पात्र का ? पानी का तो वो ही गुण है - मैल को धोना ! मलिन पदार्थ को निर्मल करना, गर्म पदार्थ को ठंडा करना, अशांत को शांत करना । पानी में एक ही गुण होने पर भी पात्र में भिन्न भिन्न गुण है । वहां पात्र अयोग्य होगा तो पानी का क्या दोष है ?

सिंहनी का दूध स्वर्ण के पात्र में ही रखा जाता है, अन्यथा पात्र फट जाता है, इसमें दोष दूध का नहीं, किन्तु पात्र की निर्बलता का ही है, इसी प्रकार धर्म के उपदेश के लिए योग्य पात्र चाहिये ।

धर्म का उपदेश सुनने के लिए पहले जिज्ञासा पैदा होनी चाहिये । वह जिज्ञासा पात्रता लानेवाली है, अतः जहाँ बैठे हो वह संसार खराब लगना चाहिये । आंशिक भी संसार की असारता की भावना हुए बिना धर्म के प्रति प्रेम नहीं होता है ।

जितने अंश में संसार की असारता हृदय में उतरेगी उतने ही अंश में धर्म प्रति सद्भाव जागृत होगा ।

प्रारंभ में संसार की असारता बतलाकर ही प्रत्येक धर्मोपदेशक को धर्म का उपदेश देना चाहिये, यदि ऐसा न करे तो वास्तविक उपकार नहीं हो सकता है ।

जो वस्तु धर्म में बाधक हो, उसका स्वरुप जब तक समझ में नहीं आए, तब तक आत्मा धर्म पा नहीं सकती है । जो असार है, उसे जब तक असार न माने तब तक कदाचित् धर्म में जुड गया हो तो भी वह टिकता नहीं है ।

संस्कार से, अभ्यास से या ज्ञानयोग से-किसी भी प्रकार से भवनिर्गुणता का ख्याल आना ही चाहिये ।

निर्गुण वस्तु में सगुणपने के आरोप से तो एकांत नुकसान होता है ।

13 दोषित में गुण का आरोप भयंकर

कोई प्रश्न करता है-`जिनेश्वर देव की मूर्ति में जिनेश्वर देव के गुण नहीं है, फिर भी मूर्ति में गुणों का आरोप करने से लाभ होता है तो इसी प्रकार गुणहीन मुनि में मुनि के वेष से मुनिपने का आरोप करने में क्या तकलीफ है ?

शास्त्र कहते है-`निर्दोष जिनमूर्ति में जिनेश्वर का आरोप हो सकता है'-जिनमूर्ति में भले ही वह गुण नहीं है, परंतु साथ में दोष भी तो नहीं है ।

निर्दोष वस्तु में गुण का आरोप कर पूजा करे तो लाभ होता है, परंतु दोषवाली वस्तु में गुण का आरोप कर उसकी पूजा करे तो दोष की पुष्टि होती है और दोनों का संसार बढता है ।

जिसमें दोष होगा, उसे पश्चात्ताप भी नहीं होगा । क्योंकि वह तो सोचेगा-`मुझे किस बात की चिंता है, मुझे भी माननेवाले बहुत हैं अतः परिणाम स्वरुप दोनों संसार में डूबेंगे ।

भव (संसार) में अच्छेपने का आरोप भयंकर वस्तु है । भले ही संसार में रहा हो, संसार की प्रवृत्ति करता हो, फिर भी किसी भी संयोग में `संसार में रहने जैसा है'-ऐसा तो नहीं कहा जाएगा ।

यदि कोई पूछे कि, `संसार में क्यों रहे हो ?'

तो कहना ही चाहिये-`दुर्भाग्य से ।'

इससे भी अधिक स्पष्ट उत्तर है-`आसक्ति और उससे उत्पन्न शिथिलता के कारण ।' -सम्यग्दृष्टि का यही जवाब होता है । परंतु वह कभी नहीं कहेगा कि संसार में रहने में क्या आपत्ति है ?

`जिस वस्तु में जिसका आरोप नहीं होना चाहिये,' वह आरोप कभी न करे क्योंकि यह संसार परिभ्रमण का कारण है ।

14

दृष्टांत न ले

शास्त्र कहते है कि, अशुभ विचार या पाप-प्रवृत्ति करने के पूर्व सो बार विचार करना, परंतु प्रभु के मार्ग पर जाने का मन हो जाय तो तुरंत जाना ।

कहा भी है, `शुभ भाव, शुभ परिणाम की प्राप्ति प्राणी को अत्यंत दुर्लभ है । किसी को शुभ परिणाम आते भी हैं तो भी क्वचित् ! परिणाम आने के बाद-थोडी भी देर की, तो परिणाम के जाते देरी नहीं लगती है ।

अशुभ में तो बैठे ही हैं, शुभ परिणाम का आचरण शीघ्र करना चाहिये ।

खाने-पीने, विषय-कषाय, पैसे कमाने और व्यवहार की प्रवृत्ति में आदमी हर समय तैयार रहता है और धर्म की बात आती है तब बहाने ढूँढता है ।

सोने और मिट्टी की तरह आत्मा और कर्म का संबंध अनादि से है । सोना भी मिट्टी के भाव चला जाता है, परंतु कुशल कारीगर के हाथ लग जाय, वह योग्य क्रिया करके मिट्टी को दूर कर देता है । वह अग्नि में भी डालता है और सोने की स्वच्छ लगडी (बिस्कीट) बना देता है ।

उसी प्रकार अनादिकाल से आत्मा और कर्म का संबंध चालू है । जिनेश्वर परमात्मा ने अपने ज्ञान से प्रत्यक्ष देखा है कि आत्मा अनादिकाल से कर्म के संयोग से फंसी हुई है, उसे यदि योग्य संयोगों में रखा जाय, तप रुपी अग्नि में डाला जाय तो वह कर्मरुपी कचरा जल सकता है और आत्मा शुद्ध बन सकती है, इसीलिए तो जिनेश्वर देवों ने तीर्थ की स्थापना की है ।

ज्ञानी कहते हैं कि गिरने के भय से नहीं चढनेवालों की अपेक्षा शुद्ध भावनापूर्वक चढकर कर्म के योग से गिरे हुए अधिक ऊँचे है ।

15 विषयजन्य सुख दुःखदायी हैं

जिसे दुःख नापसंद हो, उसे संसार की भी इच्छा नहीं करनी चाहिये । क्योंकि संसार दुःखमय है-उसका फल भी दुःख है और उसकी परंपरा भी दुःखरुप है । सच्चे सुख का अर्थी संसार को कभी नहीं चाहेगा ।

हृदय को संसार की असारता का स्पर्श हुए बिना छोटे से छोटा भी किया गया धर्म, वास्तविक धर्म नहीं बन पाता है ।

छोटे से छोटा दान, थोडा भी शील और थोडा भी तप किसलिए करने का है ?

संसार से छूटने के लिए ही ।

इस भावना से रहित किया गया दान, शील और तप आत्मा को शाश्वत सुख देने में समर्थ नहीं है ।

यदि कोई पूछे-`मोक्ष में कौन सा सुख है ?'

दुःख, इच्छा और तृष्णा का सर्वथा अभाव, अर्थात् सर्व कर्म संग से रहित होकर स्व-स्वरुप में रमणता यही वास्तविक सुख है ।

खाने-पीने आदि में सुख माननेवाले भ्रम में पडे हुए है । क्योंकि कर्म योग से प्राप्त इस शरीर में उत्पन्न भूख आदि दुःख की शांति के लिए ही खाने पीने आदि की क्रिया करनी पडती है । इससे स्पष्ट है कि खाना-पीना भी एक प्रकार का दुःख ही है ।

यदि कोई पूछे-`मोक्ष का सुख शब्दों में कहो ! तो शास्त्रकार कहते है, `वह सुख अनिर्वचनीय हैं, उस सुख का शब्दों में वर्णन शक्य नहीं है, क्योंकि दुनिया के सुख से वह सुख सर्वथा भिन्न है । जिन साधनों से दुनिया सुख चाहती है, उन साधनों का सर्वथा अभाव होने पर तथा आत्मा आत्मबल से उन सभी साधनों की ममता छोडकर कर्ममल से रहित होकर स्वस्वरुपमय बनती है, तभी मोक्षसुख का अनुभव हो सकता है ।

16

संसार का सुख !!

संसार के पदार्थों पर अनादिकाल की वासना और ममत्वभाव रहा हुआ है । उस ममत्वभाव को एक साथ उखेडना कठिन अवश्य है । वास्तव में देखा जाय तो संसार में सुख ही कहाँ है ? **दुनिया में एक वस्तु से एक को सुख मिलता है तो उसी वस्तु से दूसरे को दुःख मिलता है ।**

दुनिया में एक व्यक्ति लक्ष्मी पाकर सुखी होता है तो दूसरी ओर उतनी ही लक्ष्मी पाकर दूसरा व्यक्ति अपनी जिंदगी में सुख के अंश का भी अनुभव नहीं करता है । एक ही वस्तु एक को अच्छी लगती है तो दूसरे को खराब लगती है ।

इन सब बातों पर गहराई से विचार किया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि वास्तव में संसार में या संसार के साधनों में सुख देने की ताकत ही नहीं है ।

संसार में जो कुछ सुख है, वह एकांतिक नहीं है अर्थात् उस सुख में दुःख का अंश भी न हो, ऐसा नहीं है ।

संसारी जीवों को जो सुख चाहिये, वह दुःख के अंश से भी रहित होना चाहिये । ऐसा सुख मोक्ष को छोड अन्यत्र कहीं भी नहीं है ।

सभा में से : *मोक्ष के जीवों को तो सिर्फ बैठे ही रहने का है न ?*

पूज्यपादश्री - यह प्रश्न ही अज्ञानताजन्य है । पुद्गल के अधीन व्यक्ति को बैठना पडता है, उठना पडता है, नाचना पडता है और सब कुछ करना पडता है । मुक्ति अर्थात् पुद्गल के संसर्ग मात्र का अभाव अर्थात् मात्र स्वस्वरुप में रमणता । उन आत्माओं के लिए 'बैठे रहना पडता है'-ऐसा नहीं कह सकते है ।

स्व-स्वरुप में लीन आत्मा में किसी भी प्रकार की इच्छा ही नहीं होती है । इच्छा, लालसा से पैदा होती है और लालसा, अज्ञान और मोह से जन्म लेती है । अज्ञान और मोह का सर्वथा अभाव हुए बिना मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है ।

17

गुण और गुणाभास

जो सुख आप लोग चाहते हो ? वह सुख देने की ताकत दुनिया के किसी भी पदार्थ में नहीं है अतः जिसे वास्तविक सुख चाहिये, उसे दुनिया के पदार्थों पर से अपनी दृष्टि हटा देनी चाहिये । इसके लिए हेय और उपादेय पदार्थों का ज्ञान अवश्य होना चाहिये ।

जब तक हृदय में हेय और उपादेय में से उपादेय का निश्चय न हो जाय, तब तक धर्म की साधना शक्य नहीं है । हेय में उपादेय बुद्धि और उपादेय में हेय बुद्धि रहेगी तो परिणाम भयंकर ही आएगा ।

सोनामहोर को अच्छा और कंकड को खराब मानने का ज्ञान, सामान्य ज्ञान है । दुनिया तो उस ज्ञान को भी ज्ञान कहती है, परन्तु शास्त्रकार महर्षि तो कहते है-**'जिसका परिणाम अच्छा वह अच्छा और जिसका परिणाम खराब, वह खराब ।'** इस प्रकार का विशेष ज्ञान वह सम्यग्ज्ञान है । ज्ञान तो वह है, जो हेय-उपादेय का विवेक कराता है ।

गुण और गुणाभास की भेदरेखा को पहिचानना चाहिये । जो परिणाम में लाभ करे, वह गुण और जिसका परिणाम भयंकर है, वह गुण हो तो भी गुणाभास है ।

रुग्नावस्था में शक्कर का प्याला मीठा लगता है । परंतु परिणाम से नुकसानकारक है और करियाते का उकाला कडवा लगता है, परंतु उसका परिणाम सुंदर है । अतः गुण और गुणाभास की परिक्षा करनी चाहिये ।

राम-वाणी

जिसमें अध्यात्म-भाव न हो उसके लिए शास्त्र,
शस्त्र रुप बन जाता है और ज्ञान भी
अज्ञान में वृद्धि करनेवाला बन जाता है ।

चार अनुयोग

श्री उत्तराध्ययन सूत्र आदि धर्मकथानुयोग है ।

धर्मकथानुयोग में विविध कथाएँ होती है । जिस प्रवृत्ति द्वारा महापुरुषों ने अपना आत्मकल्याण किया और हीनभागी आत्माओं ने अयोग्य वर्तन द्वारा अपनी आत्मा को संसार में डूबा दी, इत्यादि कथाएँ धर्मप्राप्ति के ध्येय से आती है, वह धर्मकथानुयोग ! उन दो प्रकार की कथाओं का हेतु यही है कि दुनिया पाप से बचे और मोक्षमार्ग में आगे बढे । धर्मकथाएँ सुनकर पाप का त्याग करना है और मोक्षमार्ग में आगे बढना है ।

श्री सूर्यप्रज्ञप्ति आदि गणितानुयोग में आती है ।

गणितानुयोग में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र तथा तारा आदि पदार्थों की गणना, द्वीप, सागर, पर्वत तथा नदी आदि का क्षेत्र, क्षेत्रफल आदि का वर्णन आता है । यह सब बतलाने का ध्येय भी यही है कि जीव इन इन स्थानों में भटक रहा है, वहाँ से कदाचित् उत्तम सामग्री प्राप्त करता है । प्राप्त सामग्री को हार गया तो फिर उसे उन उन स्थानों में इस तरह भटकना पडेगा कि उसका पता ही नहीं लगेगा ।

'पूर्व तथा सम्मति तर्क आदि द्रव्यानुयोग में आते हैं । द्रव्यानुयोग में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल इन छ द्रव्यों का स्वरुप आता है । इसका भी ध्येय यही है कि, वस्तु स्वरुप का ज्ञान प्राप्त कर आत्मा को मलिन होने से बचाया जाय । चौदह पूर्वधर महर्षि भी अपने स्वरुप से हट जाय तो निगोद में चले जाते हैं, अतः आत्मा को अपने स्वरुप में स्थिर रखना चाहिये ।

श्री आचारांग सूत्र आदि चरण करणानुयोग है । चरण करणानुयोग में चरण सित्तरी, करण सित्तरी, संयम के प्रकार तथा निर्ग्रंथ के आचार आदि का वर्णन आता है ।

19 चरण करणानुयोग की महत्ता

चरण करणानुयोग को एक ओर रखकर शेष तीन अनुयोगों का उपयोग हो नहीं सकता है अर्थात् जिनेश्वर देव के शासन में चरण की प्राप्ति के हेतुरुप में ही धर्मकथानुयोग, द्रव्यानुयोग और गणितानुयोग है ।

चारित्र की प्राप्ति के लिए ही धर्मकथानुयोग आदि तीन अनुयोगों की आवश्यकता है । धर्मकथानुयोग आदि तीन अनुयोग भी संसार और जीवादि तत्त्वों के स्वरुप को समझाकर आत्मकल्याण के अनन्य साधनरुप संयम की ओर जीव को ले जाने के लिए ही है ।

धर्म कथानुयोग से आत्मा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विवेक को अच्छी तरह से समझ सकती है । लोक स्वरुप की भावना में गणितानुयोग अति उपयोगी है । द्रव्यानुयोग सम्यक्त्व की शुद्धि का परम साधन है । इस प्रकार ये तीनों अनुयोग चरण की प्राप्ति में सहायक है ।

चारित्र के विरोधी लोग जिनेश्वर देव के एक भी अनुयोग के सच्चे सेवक नहीं है । श्री अरिहंत परमात्मा के वचन स्वरुप एक भी अनुयोग ऐसा नहीं है, जो आत्मा को चारित्र का पिपासु नहीं बनाता हो ।

जिस ज्ञान का फल विरति नहीं है, वह ज्ञान किस काम का ? जिस प्रकार फल बिना वस्तु की कींमत नहीं है, उसी प्रकार विरति रुप फल के अभाव में ज्ञान किस काम का ?

थोडा पढा-लिखा भी यदि संयमी हो तो महाज्ञानी है और ज्यादा पढालिखा भी यदि संयम से विमुख हो तो महाअज्ञानी है । इसीलिए तो शास्त्रकारों ने मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को अज्ञान कहा है ।

राम-वाणी

अप्रशस्त कषायों को जीतना हो तो
प्रशस्त कषायों का सेवन करना ही पडेगा ।

20

धर्म से क्या मांगे ?

धर्म, अर्थ के अर्थी को अर्थ (धन) देता है, काम के अर्थी को काम देता है, पुत्र के अर्थी को पुत्र देता है, राज्य के अर्थी को राज्य देता है, स्वर्ग के अर्थी को स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) के अर्थी को मोक्ष देता है ।

धर्म तो जो मांगे वह देता है, परंतु भेद इतना ही है कि मोक्ष के अर्थी को सब कुछ देता है और पुत्र आदि के अर्थी को वह वस्तु देकर उसे छोड देता है, अतः अर्थीपना कैसा रखना चाहिये, यह विचारणीय है ।

धर्म तो पुत्र भी देता है, काम भी देता है, राज्य भी देता है, स्वर्ग भी देता है और मोक्ष भी देता है । जो भावना करे वह देता है, अतः अर्थ-काम की कामना से भी धर्म करो, क्या यह कह सकते है ? कदापि नहीं ! ऐसा कहनेवाले को तो मिथ्यात्व लगता है और सुननेवाला भी मिथ्यात्व पाएगा ।

धर्म सब कुछ देता है, परंतु हेय में उपादेय बुद्धि लग जाय तो मिथ्यात्व लगता है, अतः मांग तो मोक्ष की ही करनी चाहिये । जब तक मोक्ष न हो तब तक अन्य वस्तुएँ मिले यह अलग बात है ।

बीज बोते समय किसान की इच्छा अनाज पाने की ही होती है, घास की इच्छा नहीं होती है । घास पैदा होता है, वह पशुओं के लिए । घर में पशु हो तो उतना घास रखकर शेष बेच दिया जाता है और उन पैसों से पुनः अनाज खरीदकर फिर बोना होता है । बस, यही बात मोक्ष के विषय में समझ लेनी चाहिये ।

राम-वाणी

जिसे अपनी आत्मा की चिंता हो,
उसी में भाव दया पैदा हो सकती है ।

21

लोक प्रवाह छोडे

जब तक आत्मा हेय पदार्थ को हेय रुप में नहीं समझेगा, तब तक राग-द्वेष और मोह घटनेवाला नहीं है और जब तक राग-द्वेष और मोह नहीं घटेगा, तब तक सुख की इच्छा पूर्ण होनेवाली नहीं है ।

हेय व उपादेय पदार्थों का ज्ञान पाने के लिए विशिष्ट विवेक चाहिये और उस विवेक को पाने के लिए आप्त पुरुष की देशना चाहिये । जिसमें राग, द्वेष और मोह का सर्वथा अभाव हो, वो ही आप्त कहलाते हैं ! नाम से कोई भी हो सकता है । जो भी हो, वे भगवान-अर्हत् होने चाहिये ।

श्री ऋषभदेवस्वामी को भी मानते है और श्री महावीरस्वामी को भी मानते है । क्यों ?

क्योंकि उनमें अरिहंतपना है । इतनी बात अंतर में फीट Fit हो जाय तो वह कभी भूला नहीं पडेगा, क्योंकि उसे तो अरिहंतदेव का वचन शिरसावंद्य है । वह तो यही मानता है कि जिनमें राग, द्वेष और मोह न हो वे कभी भी असत्य नहीं बोलते है ।

जिसके हृदय में यह पवित्र जैनशासन स्थापित हो जाय वह व्यक्ति कभी दुनिया के छल से ठगा नहीं जाएगा । क्योंकि उसे लोकप्रवाह की परवाह नहीं होती है । जो व्यक्ति लोकप्रवाह में बहेगा, उसके हृदय में शासन नहीं रह सकता है ।

जिसे जैन शासन पाना हो अथवा पाकर उसका पालन करना हो, उसे लोक की अयोग्य परंपरा, लोक की धर्मनाशक बातें और लोक की अहितकर प्रवृत्तियों का त्याग करना ही चाहिये ।

महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी म. ने सीमंधरस्वामी के स्तवन में गाया है :-

'तुज वचन राग सुख आगले, नवि गणुं सुर नर शर्म रे ।
कोडी जो कपट कोई दाखवे, नवि तजुं तो ए तुज धर्म रे ।।
स्वामी सीमंधर तुं जयो ।

22 सम्यग्दर्शन टिकाना कठिन है

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से भी उसको टिकाना अत्यंत कठिन है । दुन्यवी पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा आर्त्तध्यान है और उन पदार्थों को टिकाए रखने की इच्छा रौद्रध्यान है ।

भिखारी को भीख नहीं मिलती है, तब तक उसे मांगने की ही इच्छा होती है । परंतु मिल जाने के बाद तो कोई ले ले तो उसे मारने की भी इच्छा होती है ।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद उसका रक्षण करना हो तो लोक-वासना से दूर रहना चाहिये ।

लोकप्रवाह में बहने की भावना से सर्व गुणों पर आक्रमण होता है । इसी कारण ज्ञानी की सेवा-पूजा दुष्कर है ।

श्री जैनशासन ने आपके खाने-पीने-पहिनने आदि सभी पदार्थों पर चोकी रखी है, क्योंकि हिंसा में बैठे हुए, अधिक हिंसक न बने, यह भावना है ।

भक्ष्य-अभक्ष्य के अनेक भेद बतलाने के पीछे एक ही ध्येय रहा हुआ है कि सभी हिंसा में तो रहे हुए है ही, वे अधिक हिंसक न बने ।

सुबह से उठकर रात को सो न जाओ, तब तक की आपकी सभी क्रियाओं की चिंता, यह शासन करता है । इस कार्यवाही के योग से, अधिक पाप में न फँसो, यही इस पवित्र शासन की भावना है ।

दुन्यवी पाप में और मोज-शोख में आसक्त न बन जाओ, इसके लिए सारी बातें स्पष्ट करके यह जैन शासन समझाता है ।

राम-वाणी

धर्म से सुख मिलता हैं,
परंतु उस सुख में मस्त बनना, महापाप है ।

23

अधीनता

जड़ में भी बहुत बडी शक्ति है । हीरा जड है, लेकिन आत्मा को भी उस जड हीरे का आकर्षण होता है । मुनि को हीरे का आकर्षण नहीं होता है, परंतु गृहस्थ को होता है । क्योंकि मुनि ने पुद्गल की अधीनता का त्याग किया है, परंतु गृहस्थ ने पुद्गल की अधीनता छोडी नहीं है ।

वह जड वस्तु, चेतन ऐसी आत्मा को आकर्षित करती है, रुलाती है, झगडा कराती है, इसका कारण ?

जड की अधीनता !

शक्ति दोनों में है, परंतु जड की शक्ति अलग है और चेतन की शक्ति अलग है ।

चेतन यदि जागृत हो जाय तो जड कमजोर हो जाएगा । जो शरीर भोग का साधन है, वो ही शरीर, त्याग का साधन बन जाएगा । जो शरीर आत्मा को सातवीं नरक में ले जानेवाला है, वो ही शरीर आत्मा को मुक्ति में भी ले जा सकता है ।

जड की सेवा में रही हुई आत्मा जड के अधीन कहलाती है ।

मन, वचन और काया के इन तीन योगों को हम `अपने योग' कहते हैं । परंतु थोडा विचार करोगे तो पता चलेगा कि, हम तीनों के गुलाम हैं ।

जंगली घोडा मजबूत होता है, परंतु लगाम बिना का होता है, उस पर सवारी करे तो वह सवार को खड्डे में ही गिराएगा । उसके मुँह में लगाम डाली जाय और वह लगाम हाथ में रहे तो वो ही घोडा काम लगता है ।

इसी प्रकार मन, वचन और काया रुपी घोडे पर जिनेश्वर की आज्ञा रुपी लगाम डाले तो वे ही योग अपने काम लगते है और हाथ में से लगाम चली गई तो वे ही मन, वचन और काया के योग अपनी आत्मा को भयंकर दुर्गति में भी धकेल सकते हैं ।

24 आरंभ से बचने के लिए ज्ञान

ज्ञानी कल्पतरु कहलाता है, परंतु कब ?

विनीत हो तो,

रुपवान् सदाचारी हो तो कल्पतरु ! सत्ताधीश नीतिमान् हो तो कल्पतरु । बलवान् क्षमाशील हो तो कल्पतरु और लक्ष्मीवान् दानी हो तो कल्पतरु !

विनय रहित ज्ञानी, सदाचार रहित रुपवान्, नीति रहित सत्ता-धीश, क्षमा रहित बलवान् और उदारता रहित लक्ष्मीवान् ये पांच `कल्पतरु' बनने के बजाय `कंटकतरु' ही बनते है । दुनिया को आशीर्वाद रुप बननेवाले ये ही पाँच श्राप रुप बन जाते है ।

विनय अर्थात् कर्मक्षय के लिए प्रयत्न !

विनयहीन ज्ञानी क्या करेगा ? उत्पात मचाएगा ! आज की धमाल, आरंभ-समारंभ क्यों है ? आज के तथाकथित ज्ञान से । उसे ज्ञानी कैसे कह सकते है ? इसीलिए तो शास्त्रकारों को कहना पडा, `सम्यग्ज्ञान मुक्ति का कारण है ।'

श्री उमास्वातिजी म. कहते है-**`सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्ष मार्ग है ।' यहाँ-`सम्यग्' शब्द तीनों के साथ जोडने का कहा है ।**

आरंभ-समारंभ और दुनिया के पदार्थों की प्राप्ति में जोडनेवाला ज्ञान, सम्यग्ज्ञान नहीं है । आरंभ-समारंभ की धमाल करनेवाला और उस प्रकार की कला सिखानेवाला ज्ञान, मुक्तिदायक नहीं, किन्तु संसारवृद्धि का ही कारण है ।

जीव आदि पदार्थों का ज्ञान भी आरंभ-समारंभ के प्रयोग करने के लिए नहीं है । बल्कि आरंभ से बचने के लिए है । इसीलिए तो शास्त्र में लिखा है-संसार की पिपासा घटी हो तो शास्त्र पढ़ना, नहीं तो दूर ही रहना ।

25

मूर्च्छा उतारने के लिए दान

ज्ञानी महापुरुषों की दृष्टि में संसार की प्रत्येक वस्तु दुःखरुप, दुःखफलक और दुःखानुबंधी है । इसी कारण ज्ञानी पुरुषों ने लक्ष्मी, शरीर, खान-पान या यथेच्छ विचारों को धर्मरुप न कहकर दान, शील, तप और भावना को ही मुक्ति के हेतुरुप कहा है । परम मुनि फरमाते है-

'दानं सुपात्रे विशदं च शीलं, तपो विचित्रं शुभ भावना च !
भवार्णवोत्तारण यानपात्रं, धर्मश्चतुर्धा मुनयो वदन्ति ।।2।।'

सुपात्र में दान, निर्मल शील, विचित्र प्रकार का तप और शुभ भावना ये चार प्रकार के धर्म संसार सागर से पार उतरने के लिए यानपात्र अर्थात् जहाज समान है ।

दान अर्थात् धर्म और लक्ष्मी अर्थात् अनर्थ । लक्ष्मी यदि अनर्थ का कारण न हो तो दान देने की जरुरत ही क्यों ?

शास्त्रकारों ने दान देने की आज्ञा किसे की ?

जो लक्ष्मी की मूर्च्छा में पडे हैं, उनको । परंतु जिन्होंने लक्ष्मी का त्याग करके सर्वथा लक्ष्मी छोड दी है, उनके लिए दान की बात नहीं की है ।

शास्त्रकारों ने दान को धर्म कहा, लक्ष्मी को नहीं । दान लक्ष्मी से होता है, अतः लक्ष्मी को भी धर्म कहेंगे तो लक्ष्मी कैसे मिलती है ? व्यापार से ! तो व्यापार भी धर्म हो जाएगा । व्यापार में आरंभ-समारंभ होता है, वह भी धर्म और आरंभ-समारंभ से जीवहिंसा होती है, वह भी धर्म हो जाएगा । यदि ये सभी वस्तुएँ धर्मरुप बनेगी तो अधर्म रुप क्या रहेगा ?

लक्ष्मी की मूर्च्छा उतारने के लिए ही ज्ञानियों ने दान को धर्म कहा है । इसी प्रकार शरीर सेवा को धर्म न कहकर शील को धर्म कहा । यथेच्छ खान-पान को धर्म न कहकर तप को धर्म कहा । यथेच्छ विचारों को धर्म न कहकर, आप्तवचन रुप आगम का अनुसरण करने-वाले शुभ विचारों को ही धर्मरुप कहा है ।

अभिलाप्य-अनभिलाप्य

श्री तीर्थंकर परमात्मा सब कुछ जानते हैं, परंतु जो जानते हैं, उसका अनंतवां भाग ही कह सकते है, क्योंकि ज्ञेय पदार्थों में जितने

अभिलाप्य **(कहने योग्य)** हैं, उसकी अपेक्षा अनंतगुणे पदार्थ अनभिलाप्य **(नहीं कहने योग्य)** है ।

अभिलाप्य अर्थात् कहने योग्य पदार्थों का भी अनंतवां भाग ही तीर्थंकर परमात्मा कह सकते है । ये सब बातें स्पष्ट रुप से समझ में आ जाय तो दुनिया की किसी भी वस्तु का आकर्षण नहीं रहेगा ।

दुनियाँ में ऐसी कोई चीज नहीं है, ऐसा कोई अक्षर-संयोग या पदार्थ नहीं है, जिसका वर्णन अरिहंत देव के आगम में न हो । पूर्व आदि श्रुत चला गया है, परंतु जो भी बचा है, उसमें दर्पण में गिरे प्रतिबिंब की तरह सारी दुनिया का स्वरुप दिखाई देता है ।

हितकारी बोले

शास्त्र कहते है कि सत्य, प्रिय, मित और हित बोलना चाहिये । फिर आगे कहते है-सत्य कहने के लिए मितपना छोडना पडे तो छोडना चाहिये । प्रमाण छोडकर अधिक प्रमाण में कहना पडे और अप्रिय भी कहना पडे तो कहना चाहिये । परंतु वह वचन हितकारी तो अवश्य होना चाहिये । कदाचित् सत्य न हो, परंतु हितकारी हो तो भी जरुर कहना चाहिये । यदि हितकारी न हो तो सत्य, प्रिय और मित भी गलत है ।

श्री उमास्वामिजी म. भी कहते हैं-सामनेवाला खुश हो या नाराज, परंतु हितकारी भाषा अवश्य कहनी चाहिये । जो परिणाम में लाभकारी हो, वो ही वास्तव में 'हित' कहलाता है ।

करीयाते का उकाला पीते समय तो कडवा लगता है, परंतु परिणाम में हितकारी है, अतः अच्छा कहलाता है ।

सत्य-असत्य, संयम और असंयम का विरोध तो रहने ही वाला है । ज्ञानी कहते हैं कि धर्म की आराधना में विरोध की उपेक्षा ही करने की है ।

अच्छे काम में हर काल में थोडा-बहुत विरोध तो रहने ही वाला है ।

शास्त्रदृष्टि से, शिष्ट पुरुषों की दृष्टि से जो विरुद्ध कार्य हो वह नहीं करना चाहिये, परंतु अज्ञानी लोगों के विरोध मात्र से कल्याणकारी क्रिया का त्याग नहीं करना चाहिये और उत्साह और आनंदपूर्वक शक्ति को लेश भी छिपाए बिना कल्याणकारी क्रियाओं की आराधना करते रहना चाहिये । जिससे अल्पकाल में ही अपना आत्महित साधा जा सके ।

26 अर्थ-काम की देशना

अर्थ और काम की लालसा में पडे हुए लोगों को उसमें स्थिर करना, क्या यह उपकार की निशानी है ? यह लालसा तो रोम रोम में कूट कूट कर भरी हुई है । चौबीस घंटे उसका ध्यान चालू है । अर्थ और काम के लिए अधर्म करने के लिए तैयार है । अधर्म को छोडो, धर्म को भी लात मारने के लिए तैयार है ।

अर्थ और काम की देशना देना तो क्षत ऊपर क्षार डालने के समान है । नमक का स्वभाव है, वह जलाता है और घाव बढाता है । अर्थ-काम में डूबी हुई आत्मा को उसमें डालना, यह तो क्षत पर क्षार डालने के समान है अथवा आग में घी डालने के समान है ।

जब तक आत्मा उन्मार्ग से पराङ्मुख न बने तब तक सन्मार्ग सन्मुख नहीं बनती है ।

उपदेशक को छूट दी है कि वह क्रिया का अंतिम फल कहे । धर्म का फल मोक्ष और पाप का फल नरक ।

पाप करनेवाले सभी नरक में ही जाते हैं, ऐसा नहीं है, मंद परिणाम से पाप करे तो नरक में न भी जाय और वापस पीछे हट जाय और सन्मार्ग में आगे बढे तो मोक्ष में भी जा सकता है ।

परंतु पापी मोक्ष में जाता है, ऐसा तो कभी नहीं कह सकते है ।

सभी पापी नरक में ही जाते हैं, ऐसा भी नहीं है । परंतु पाप का फल नरक है, ऐसा तो कह सकते है ।

विषय, कषाय और अभक्ष्य भक्षण का फल तो नरक ही कहा जाएगा ।

इसी प्रकार धर्मी धर्म में लीन बनेगा तो परिणाम स्वरुप मोक्ष में ही जाएगा, भले ही बीच में कुछ भव करने पडे ।

27

मुनि, मात्र धर्मलाभ दे

सम्यग्दृष्टि की यह मान्यता होती है कि `जिस संसार में मैं बैठा हूँ, वह संसार झूठा है, छोडने जैसा है । उसका त्याग ही करने जैसा है । स्वीकार्य तो एकमात्र संयम ही है ।'-यह बात रोज करने जैसी है ।

सम्यक् चारित्र भी फलदायी कब ?

सम्यग्दर्शन हो तो ! ज्ञानियों का वचन है-

'दंसण भट्ठो भट्ठो, दंसण-भट्ठस्स नत्थि निव्वाणं ।
सिज्झंति चरणरहिया, दंसण-रहिया न सिज्झंति ।''

दर्शन से भ्रष्ट तो भ्रष्ट ही है । दर्शन से भ्रष्ट का निर्वाण नहीं है । चरणरहित आत्मा मोक्ष पा सकती है, परंतु दर्शन रहित आत्मा कभी भी मोक्ष नहीं पाती है ।

जो दर्शन-रहित हुआ, उसमें चारित्र का संभव नहीं है । दर्शन सुरक्षित हो तो चारित्र खींचकर आता है ।

नंदिषेण चारित्र से गिरे थे, परंतु उनका दर्शन सुरक्षित था ।

वे वेश्या के घर गए । रजोहरण को खुंटी पर टांग दिया, परंतु साथ में अभिग्रह भी किया । 'प्रतिदिन दस को प्रतिबोध न करुं-प्रभु मार्ग का रसिक न बनाऊं, तब तक आहार नहीं लूंगा ।'

घर वेश्या का था, ओघा खुंटी पर था, परंतु मान्यता यही थी, 'मैं पामर हूँ, कर्मयोग से गिरा हूँ ।'

नंदिषेण मुनि भिक्षा के लिए गए थे । वे वेश्या के घर गए और 'धर्मलाभ' कहा ।

वेश्या ने कहा, 'यहाँ अर्थलाभ की जरुरत है ।'

जरा सोचे !

वेश्या ने अर्थलाभ कहा और वे मुनि भूले पडे । कर्मयोग से गलत कदम उठाया ।

मुनि तो सर्वत्र धर्मलाभ ही देते है । जीते भी धर्मलाभ और मरते भी धर्मलाभ । यहाँ कोई आए तो भी धर्मलाभ और तुम्हारे घर आ जाय तो भी धर्मलाभ ही देते है । मुनि के पास अर्थ या काम का लाभ नहीं होता है ।

28 मानव जीवन की महत्ता

शास्त्र में चार गति कही है-देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक। तिर्यंच गति और नारक गति तो दुःखमय है, उसकी बात जाने दे। देव व मनुष्य गति की बात करते है।

देव जीवन, भोग जीवन है, जब कि मनुष्य जीवन, भोग जीवन नहीं, किन्तु त्याग जीवन हैं, इसी कारण इस जीवन की महत्ता है।

यदि भोगजीवन महान् होता तो देव जीवन की महत्ता गाई जाती, जब कि महत्ता तो मनुष्य जीवन की गाई गई है।

दश दृष्टांतों के द्वारा मनुष्य जीवन की दुर्लभता समझाई गई है।

देव गति में भोग अत्यधिक है।

शास्त्रकार समझाते है-'तेरी आत्मा ने अनेकवार उन दिव्य सुखों का अनुभव किया है, फिर भी तृप्ति कहाँ हुई है ? तो फिर इन मनुष्य संबंधी भोगों से तृप्ति कहां होने वाली है ? ज्यों ज्यों तुम भोग के पास जाओगे, त्यों त्यों तुम्हारी लालसा बढनेवाली है।

भोग का यह स्वभाव है कि उसके योग से कभी तृष्णा शांत नहीं होती है। देवताओं के भोग के सामने मनुष्य के भोग तो नाम मात्र के है, फिर भी मनुष्य जीवन की महत्ता बतलाई गई। इसका एक ही कारण है-मनुष्य चाहे तो इष्टफल प्राप्त कर सकता है।

देवता मरकर न तो मोक्ष में जा सकते हैं और न ही देव बन सकते हैं, जबकि मनुष्य चाहे तो देव भी बन सकता है और मोक्ष में भी जा सकता है। विपरीत आचरण करे तो तिर्यंच में भी जा सकता है और 7वीं नरक में भी जा सकते है।

संयोग सभी प्रकार के है। हर तरह की अनुकूलता है। योग्यता और शक्ति भी हर तरह की है। लाभ उठाना चाहे तो पूरा-पूरा लाभ उठा सकता हैं।

देशविरति धर्म है

भगवान ने चार प्रकार के संघ की स्थापना की और दो प्रकार का धर्म कहा ।

धर्म दो प्रकार का है-सर्वविरति और देशविरति अथवा साधुधर्म और श्रावक धर्म ।

भगवान् ने जिस प्रकार सर्वविरति धर्म की स्थापना की है, उस तरह से देशविरति धर्म की स्थापना नहीं की है । परमात्मा ने ज्ञान से देखा कि सभी लोग सर्वविरति नहीं ले सकते है अतः सर्वविरति के लिए असमर्थों के लिए देशविरति धर्म कहा है ।

गृहीलिंग में मुक्ति होती है, परंतु उसमें भी सर्वविरति का स्वीकार तो है ही ।

जो सर्वविरति न ले सके उसके लिए देशविरति है और जो देशविरति भी न ले सके, उसके लिए सम्यक्त्व है । जो सम्यक्त्व के लिए भी असमर्थ है, उसके लिए मार्गानुसारीपना है ।

घर बनाना, मोज शोख करना उसे जो गृहस्थ-धर्म कहता हो, वह गलत है ।

गृहस्थ धर्म अर्थात् देशविरति धर्म अथवा सम्यक्त्व धर्म अथवा मार्गानुसारिता के गुणरुप धर्म ।

जितनी **'विरति'**, उतना धर्म है । जितना 'संयम', उतना धर्म है । जितनी **'मार्ग की सन्मुखता'** उतना धर्म ।

हर व्यक्ति साधु नहीं बन सकता, इसके लिए देशविरति है । देशविरति के लिए जो असमर्थ हैं, उसके लिए सम्यक्त्व । सम्यक्त्व के स्वीकार में असमर्थ के लिए मार्गानुसारिता । धर्म से कोई वंचित न रहे जाय, उसके लिए अनंतज्ञानियों का यह आशय है ।

लक्ष्मी उपादेय नहीं है

जिस लक्ष्मी के योग से कोई सोने के मंदिर बंधाए । उससे भी एक दिन का संयम पालन करनेवाला ऊंचा है । इन दो के बीच में मेरु और सरसो के दाने जितना अंतर है ।

विषयाभिलाषी भवाभिनंदी आत्मा संसार के सुख चाहती है, परंतु उसका विषम परिणाम देख नहीं पाती है ।

मुनि तो सर्व प्रथम सर्व विरति (सर्व संगत्याग) का ही उपदेश देगा ।

उपदेश सुनकर यदि श्रोता कहे कि `मुझ में इतनी ताकत नहीं है, मुझे घर में रहना पडेगा । तो उसके बाद उसे देशविरति धर्म बताएगा ।

देशविरति के लिए असमर्थता बतानेवाले को मुनि सम्यक्त्व बता-एगा और उसके लिए भी असमर्थ व्यक्ति को मार्गानुसारीपना बताएगा ।

मार्गानुसारिता के लिए असमर्थता बतानेवाले को इतना ही कहा जाएगा `मार्गानुसारिता की भावना रखो ।'

मार्गानुसारिता का भी जहाँ अभाव है, वहां उन्मार्ग है ।

राम-वाणी

सद्गति का महत्त्व सुख-सामग्री की प्राप्ति और उसके उपयोग की दृष्टि से नहीं है, बल्कि धर्म की आराधना की दृष्टि से है । इसी प्रकार दु:ख के कारण दुर्गति से दूर रहने का नहीं हैं, बल्कि वहां धर्म आराधना शक्य नहीं हैं, इसी कारण दुर्गति से बचने का है ।

29

अनुष्ठान के प्रकार

संसार की किसी भी वस्तु को पाने के लिए अथवा प्राप्त वस्तु को दृढ करने की इच्छा से किया गया धर्म मिथ्यात्व रुपी जहर से दूषित होता है ।

ज्ञानियों ने धर्मानुष्ठान के 5 प्रकार कहे हैं- (1) विषानुष्ठान, (2) गरलानुष्ठान, (3) अननुष्ठान, (4) तद्हेतु अनुष्ठान, (5) अमृत अनुष्ठान ।

अमृत अनुष्ठान ऊंच कोटि की आत्माओं के लिए है ।

इस लोक के पौद्गलिक सुख की अभिलाषा से किया गया धर्म `विषानुष्ठान' कहलाता है । परलोक के पौद्गलिक सुख की अभिलाषा से किया गया अनुष्ठान `गरलानुष्ठान' कहलाता है ।

`सभी करते हैं, इसलिए करता हूँ' ध्येयहीन अनुष्ठान `अननुष्ठान' कहलाता है ।

इन तीनों में आत्मकल्याण की भावना नहीं है । पहले दो अनुष्ठानों में धर्म का परिणाम जहर का है । एक तुरंत खत्म करता है, जबकि दूसरा धीरे धीरे खत्म करता है ।

तीसरा अनुष्ठान संमूर्च्छिम जैसा है, गाडरिया प्रवाह तुल्य है । भावना नहीं है । संवत्सरी आ गई, सभी उपवास करते हैं, अतः कर लेता है । प्रतिक्रमण भी कर लेता है । `न करे तो दूसरों को खराब लगेगा, इज्जत चली जाएगी', इस प्रकार सोचकर कर लेता है ।

इन तीनों अनुष्ठानों में धर्मभावना नहीं है ।

पहले दो अनुष्ठानों की अपेक्षा तीसरा थोडा कम खराब है, क्योंकि वह विपरीत फल देगा ही, ऐसा नियम नहीं है । विपरीत फल दे भी सकता है और निष्फल भी जा सकता है । जब कि पहले दो तो अनर्थ की परंपरा का ही सर्जन करनेवाले है ।

प्रणिधान, प्रवृत्ति, विघ्नजय, सिद्धि और विनियोग-ये धर्म के पांच आशय है । इन पांचों में से एक भी आशय इन तीनों अनुष्ठानों में नहीं है । प्रणिधान शून्य है । शास्त्रकारों ने इन तीन अनुष्ठानों का निषेध किया है क्योंकि उस बुद्धि से धर्म करनेवाला धर्म को कब ठोकर लगाएगा, कुछ कह नहीं सकते है ।

30

आचार शुद्धि अनिवार्य है

श्री अरिहंत परमात्मा की वाणी को चार भागों में बांटी गई है और उनमें चरणकरणानुयोग मुख्य है । तीनों अनुयोग के फलरुप और चार अनुयोगों में प्रधान चरणकरणानुयोग उसके अभाव में शेष तीन अनुयोगों से आत्मा को जो लाभ होना चाहिये, वह नहीं होता है ।

साध्य की सिद्धि के लिए चौथे अनुयोग की प्राप्ति या रुचि बिना तीन अनुयोग उपयोगी नहीं बन पाते है । इन तीन अनुयोगों की सहायता से चौथा अत्यंत ही शुद्ध बने, तभी उन तीनों की उपयोगिता है ।

गणधर भगवंतों ने सर्व प्रथम आचार सूत्र की रचना की, क्योंकि वह चरणकरणानुयोग को प्रतिपादन करनेवाला पहला अंग सूत्र है । आचार मुख्य वस्तु है । आचार शुद्धि बिना, विचार शुद्धि भी नहीं होती है ।

अयोग्य आचार में रही कोई आत्मा कदाचित् विचार शुद्धि प्राप्त भी कर ले तो भी उसका दृष्टांत नहीं लिया जाता है । मुख्यतया तो आचार शुद्धि बिना विचार शुद्धि नहींवत् होती है ।

अयोग्य आचार करने पडते हो और करे तथा आदरपूर्वक करे, इन दो में बहुत बडा अंतर है ।

सम्यग्दृष्टि जीव को दुन्यवी आचारों की इच्छा नहीं होती है, न ही वह उसका प्रशंसक होता है, फिर भी उसे उन आचारों का पालन करना पडता है, वह अलग बात है । इच्छापूर्वक करे और मजबूरी से करे, उन दोनों में बडा अंतर है । आचार के अभाव के कारण ही तो सम्यग्दृष्टि को 'बाल' कोटि में गिना है ।

मुनि के मरण को 'पंडित मरण' कहा जाता है । देशविरतिधर श्रावक के मरण को 'बाल पंडित' मरण कहा जाता है और शेष सभी के मरण को 'बालमरण' कहा जाता है, उसमें सम्यग्दृष्टि का भी समावेश हो जाता है ।

31

मुनि का धर्मदान

सर्व विरति के स्वीकार के बाद जीवन तन्मय बन जाना चाहिये । सर्वविरतिधर मुनि जो दान करता है, वह दान तो आत्मा को अवश्य उपकारक ही होता है क्योंकि मुनि को धर्मदान सिवाय अन्य दान का अधिकार ही नहीं है ।

`क्या मेरे पास अर्थ नहीं है ?' इस भावना से तो नंदिषेण मुनि का पतन हो गया ।

आपका व्यापार-व्यवसाय, भाव, आय-व्यय, बंगला-बगीचा, वारस बाल-बच्चे आदि जानने की मुनि को आवश्यकता नहीं है । मुनि तो आपके सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण आदि की जानकारी रख सकते हैं, क्योंकि धर्म का सेवन और धर्म का प्रचार यही मुनि का ध्येय होता है ।

साधु-श्रावक को परस्पर की नीति-रीति, आचार-मर्यादा जानने की आवश्यकता है, आप लोग अपनी फर्ज अदा करो । जिसे साधु मानते हो, उनके प्रति कैसा व्यवहार रखना चाहिये, उस संबंध में शास्त्रसिद्ध मर्यादाओं का अभ्यास करना चाहिये ।

आपके दुन्यवी व्यवहार में हस्तक्षेप करने का मुनि को कोई अधिकार नहीं है ।

आपके दुन्यवी व्यवहार में मुनि को घुसाने की आवश्यकता नहीं है ।

आपको तो कहना चाहिये, ``हम आधि, व्याधि और उपाधि में सुलगे हुए है, धर्मरुपी नीर बरसाकर हमें शांत करने की कृपा करो ।''

प्रत्येक श्रावक को अपने घर साधु का वेष रखना चाहिये । आप लोगों ने घर में रखना बंद किया । इसलिए मैंने रजोहरण बताना चालू किया । शास्त्रकार कहते हैं कि श्रावक अपने घर पर यह वेष रखे । प्रतिदिन दर्शन करे और भावना करे कि 'वह धन्य दिन कब आएगा, जब मैं इस वेष को स्वीकार करुँगा ।'

32

ज्ञान का फल

श्री जैन शासन में क्रियारहित ज्ञान की कींमत नहीं है, क्योंकि जैन शासन ने ज्ञान को निर्जरा का साधन कहा है । जो ज्ञान कर्म बंध का कारण होता है वह वास्तव में ज्ञान ही नहीं है ।

जिस ज्ञान से आत्मा विषय-कषाय में लिप्त बने, विषय-कषाय की ओर आकर्षित हो, वह ज्ञान अज्ञानरुप में परिणत हुआ कहा जाएगा । इसी कारण अभिमान को ज्ञान का अजीर्ण कहा है । ज्ञान-प्राप्ति बाद अभिमान न आ जाय, इसके लिए सावधानी जरुरी है । जीवन में ज्यों ज्यों सम्यग्ज्ञान बढेगा, त्यों त्यों विषय-कषाय की भावना मंद होती जाएगी ।

ज्ञान प्राप्ति के बाद यदि अभिमान होता हो तो समझना चाहिये कि वास्तव में ज्ञान परिणत नहीं हुआ है ।

अनादि से वासनाग्रस्त आत्मा में दोष का प्रादुर्भाव कब हो जाएगा, कुछ कह नहीं सकते हैं । सावधानी न रखे तो विकार होने की संभावना है ।

आहार के उपयोग से सभी को अजीर्ण हो जाता है, `ऐसा नही है, उसी प्रकार ज्ञानप्राप्ति बाद सभी को अभिमान आ जाय, ऐसा भी नहीं है ।

शुद्ध हेतुरहित ज्ञान से अजीर्ण होने की संभावना रहती है, अतः रोज सोचना चाहिये कि, ज्ञान के योग से आत्मा की कौन-सी स्थिति है ? यदि विपरीत दिशा में आत्मा का वर्तन हो तो समझना चाहिये कि ज्ञान जिस प्रकार परिणत होना चाहिये, उस प्रकार से नहीं हुआ है ।

ज्ञान, निर्जरा का कारण है और निर्जरा के लिए ही ज्ञान का स्वीकार होना चाहिये । **जो ज्ञान मन, वचन और काया पर नियंत्रण करने में सहायक न हो, वास्तव में ज्ञान ही नहीं है ।**

ज्ञानी श्वासोश्वास मां, कर्म खपावे जेह,
पूर्व क्रोड वरसो लगे, अज्ञानी करे तेह ।

यह दोहा उन्हीं ज्ञानियों के लिए हैं, जो मन, वचन और काया के योगों पर नियंत्रण रखते हो । यह दोहे के आधार पर जो शुष्क ज्ञान की महत्ता स्थापित करना चाहते हैं, वे वास्तव में ज्ञानी नहीं है ।

आचारांग-टीकाकार महर्षि ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि, यह शास्त्र ज्ञानरुप होने से मंगलरुप है । क्योंकि ज्ञान निर्जरा के लिए है ।

सच्चा सुख

ज्ञानी पुरुषों ने कहा है-

जं अन्नाणी कम्मं खवेइ, बहुयाइं वासकोडिहिं ।
तं नाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ उसासमित्तेणं ।।

अज्ञानी करोडों वर्षों द्वारा जो कर्मक्षय करता है, वह कर्मक्षय, मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से युक्त ज्ञानी एक-उच्छ्वास मात्र से कर देता है ।

इससे स्पष्ट है कि ज्ञान, आडंबर के लिए नहीं है । बल्कि उसकी प्राप्ति के द्वारा मन, वचन और काया पर नियंत्रण पाकर कर्मक्षय करने के लिए है ।

ज्ञान द्वारा कर्मक्षय रुप साध्य की सिद्धि वो ही आत्मा कर सकती है, जो अपने मन, वचन और काया के योगों को अंकुश में रखने के लिए प्रयत्नशील बनती है ।

वास्तव में तत्त्वज्ञानी वो ही है, जो मन से खराब चिंतन नहीं करता है, मन में गलत विचार आने नहीं देता हैं ।

कदाचित् चित्त शुद्ध भावना से सुवासित न रहे और खराब विचार आ जाय तो उन विचारों को वाणी से तो अभिव्यक्त नहीं करता है । कदाचित् मुर्ख की संगति से खराब वचन बोल दिया हो तो भी उसे वर्तन में तो नहीं लाता है । यदि खराब वर्तन हो जाय तो वह वास्तव में 'तत्त्वज्ञानी' ही नहीं है ।

मोक्ष को छोडकर अन्य किसी भी स्थान में अव्याबाध सुख नहीं है । ज्ञानियों का वचन है, जो सुख आत्मा को चाहिये, वह सुख दुनिया में कही नहीं है । संसार में जितने भी सुख हैं, वे सब संयोगजन्य है, इस कारण संसार में अव्याबाध सुख नहीं है ।

संसार में संयोगजन्य सुख जरुर है । संयोगजन्य सुख तो आता है

और जाता है । इस कारण वह सुख तो दुःख का ही कारण है । वह सुख वास्तव में सुख नहीं, किन्तु दुःख रुप ही है ।

दुनिया के जीव जिस एकांतिक, आत्यंतिक और संपूर्ण सुख की इच्छा करते है और शास्त्र जिस सुख को इष्ट और उपादेय के रुप में कहते हैं, वह सुख मोक्ष को छोडकर अन्य किसी स्थल में नहीं है ।

उपकारी महापुरुष फरमाते है कि आत्मा की दृष्टि दुनिया के सुख की ओर ढली हुई है, उसे मोक्ष की ओर करनी चाहिये । जब तक संसार तरफ की दृष्टि हटे नहीं, तब तक मोक्ष की ओर दृष्टि नहीं हो पाती है ।

नीतिशास्त्र भी कहते हैं, `आशा ही महादुःख है ।' आशा आने पर पराधीनता आती है । पराधीनता के कारण सुख भी दुःख में परिणत होता है ।

राम-वाणी

संसार को भयंकर और मोक्ष को कल्याणकर माननेवाला
कदाचित् घर में मरे तो भी सद्गति में जाएगा,
जब कि संसार को अच्छा मानने वाला और
मोक्ष की इच्छा से रहित साधुपने में मरे तो
भी दुर्गति में ही जानेवाला है ।

34

संपत्ति से भय

सम्यग्दृष्टि आत्मा **'आपत्ति'** से जितनी नहीं डरती है, उतनी **'संपत्ति'** से डरती है, क्योंकि वह समझती है कि आपत्ति को योग्य रीति से सहन किया जाय तो वह कर्मक्षय का साधन बनती है । जबकि संपत्ति तो कर्म को बढानेवाली है, अतः वह संपत्ति से डरती है ।

आपत्ति में `अरे बाप रे !' करते हुए कभी भगवान् भी याद आ जाते हैं, परंतु संपत्ति में तो भगवान् किसी विरल व्यक्ति को ही याद आते है ।

संपत्ति में तो भगवान् को मंदिर में रखता है, जब कि दुःख में तो दुःख को दूर करने के लिए भगवान् को भी याद करता है ।

अशुभोदय से भी शुभोदय का भोग कठिन है । नारकी मरकर नारकी नहीं बनता है, जब कि मनुष्य मरकर नारकी होता है ।

नरक में एक मात्र दुःख की सामग्री है, वहाँ चाहे जितनी `हाय ! हाय ! करे तो भी नरक के आयुष्य का बंध नहीं होता है ।'

दुःख की विडंबना से नारकी कायर बना होता है । वहाँ से छूटने की भावना हमेशा रहती हैं, क्योंकि वहाँ अशुभोदय है ।

शुभ के उदय में डुबे हुए को 'यह छोडकर जाना है' यह-पता होने पर भी समृद्धि के समय, पश्चात्ताप का भाव नहीं आता है । पुदगल के आनंद में सब कुछ भूल जाता है ।

राम-वाणी

भाव धर्म से निरपेक्ष बनकर जो तप-जप आदि धर्म
होता हैं, उससे जिस पुण्य का बंध होता है,
वह मुक्ति का साधन नहीं बन पाता है ।

35

आत्म-जागृति

सूत्रकार ने द्वादशांगी के सार रुप जो वस्तु कही है, उसे हृदय में स्थिर कर देनी चाहिये । इसी द्वादशांगी को पाकर अनंत आत्माएँ संसार से पार उतर गई-संख्याबंध पार उतर रही है और अनंत आत्माएँ पार उतरेगी ।

इसी प्रकार जो पौद्‌गलिक रति के रसिक थे, वे आत्माएँ इसी द्वादशांगी को पाकर संसार में डूब गई, अनेक डूब रही है और अनंत डूब जाएगी ।

योग्यता का विकास न करे तो तारनेवाली वस्तु भी डूबा देती है । हथियार चलाना न आए तो वह स्वयं को मार देता है ।

व्यवहार में भी कहावत है-`सोने की छुरी को पेट में नहीं डाली जाती है ।'

द्वादशांगी की आज्ञा का पालन आनंददायी है, वह सब कुछ देता है । वह संसार का सुख भी देता है और मोक्ष का सुख भी देता है, परंतु उसके फल स्वरुप मांगने का तो मोक्ष ही है ।

इसकी आराधना किए बिना संसार का योग्य सुख भी नहीं मिलता है । संसार में भी जो योग्य सुख मिलता है, वह इसी की आराधना से मिलता है ।

द्वादशांगी में सब कुछ है । बारह अंग के सार रुप में आचार मुख्य है, इसी का सुंदर परिणाम होने से सब में इसी की मुख्यता है ।

ज्यों ज्यों ज्ञान बढता हैं, समझशक्ति बढती है, त्यों त्यों आचार-शुद्धि बढती है । इसके फल स्वरुप स्व-पर में तथा शत्रु-मित्र में समभाव आता है ।

ऐसी पुण्यशाली आत्मा, आत्मकल्याणकारी प्रवृत्ति में अप्रमत्त बनती है और आत्म अहितकर प्रवृत्ति में बधिर, अंध व मुक ही होती है ।

36 सम्यग्दृष्टि की विचारधारा

नारकी के जीव ही ऐसे हैं, जो मरने की ही इच्छा करते है । अन्य तीन गति के आयुष्य को पुण्य प्रकृति में गिना गया है, जब कि नरक गति के आयुष्य को पाप प्रकृति कहा गया है ।

नरक में भयंकर त्रास और आयुष्य भी निरुपक्रम होता है, इसीलिए कहता हूँ, `बंध के पहले विचार करो ।'

नरक जीवों के शारीरिक, वाचिक व मानसिक दुःखों का पार नहीं है । अच्छी कल्पना करते हैं, फिर भी खराब होता है । वहाँ का स्थान, आकृति आदि सब कुछ भयंकर है । उस भयंकर दुःख में पडी आत्मा को कभी पश्चात्ताप भी होता है, परंतु क्या कर सकते हैं ? अशुभ का विपाक भोगे बिना छुटकारा नहीं है । वहाँ नरक योग्य बंध नहीं होने से नारकी मरकर वापस नारकी नहीं होता है ।

यद्यपि सम्यग्दृष्टि आत्मा वहाँ चिल्लाती है, फिर भी सम्यक्त्व के प्रभाव से कर्म स्थिति को समझती है, इस कारण कुछ अंश में शांति का अनुभव करती है । क्षेत्र पीडा और परमाधामी देवकृत पीडा तो उसे भी होती है, परंतु मन पर नियंत्रण होने से कुछ शांति होती है । मन में वह समझती है कि कर्म का बंध किया है, अतः भोगे बिना छुटकारा नहीं है ।

सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि की मानसिक स्थिति में अंतर होता है ।

लक्ष्मी चली जाती है तब सम्यग्दृष्टि समझता है कि शुभोदय का क्षय हुआ है, अतः चली गई तो पीडा गई । लक्ष्मी को संभालने की चिंता मिटी । परंतु लक्ष्मी जाने पर मिथ्यादृष्टि तो सिर कूटता है ।

लक्ष्मी आने पर सम्यग्दृष्टि नाचता नहीं है और चली जाय तो मूर्च्छित भी नहीं होता है । जबकि मिथ्यादृष्टि तो लक्ष्मी आने पर नाचता है और चली जाय तो सिर पछाडता है ।

37

मर्यादा न तोडे

प्रमाद के कारण चौदह पूर्वी का भी पतन हो जाता है । प्रमाद का जोर भयंकर है । मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय अच्छी अच्छी आत्माओं को मोहित किए बिना नहीं रहते हैं । भगवान महावीर परमात्मा श्री गौतमस्वामीजी को बार बार `समय मात्र का भी प्रमाद मत करना'- कहते थे ।

चार ज्ञान के धनी और तीन ही वचन पर से द्वादशांगी की रचना करने में समर्थ के लिए भी 'इच्छाए धम्मो' न कहा तो हमारे लिए तो 'इच्छाए धम्मो' कैसे हो सकता है ?'

उन्होंने भी 'आणाए धम्मो'-आज्ञा में ही धर्म कहा, परंतु मति कल्पना में धर्म नहीं कहा । तो फिर हम तो कैसे कह सकते हैं ?

महावीर प्रभु के 14000 मुनियों में 700 केवलज्ञानी, जबकि गौतम-स्वामी के सभी शिष्य केवलज्ञानी ।

हजारों केवलज्ञानी के गुरु भी 'इच्छा में धर्म' नहीं मानते थे, क्योंकि वे जानते थे कि हम छद्मस्थ है ।

छद्मस्थ अर्थात् घातीकर्म के अधीन आत्मा !

घातीकर्म अर्थात् आत्मा के मूल गुणों का घात करनेवाले कर्म । जब तक आत्मा घातीकर्म के पराधीन है, तब तक अनंतज्ञान की पराधीनता में रहकर ही हर आत्मा को प्रवृत्ति करनी चाहिये !

श्री जिनेश्वरदेव की आज्ञा छोडकर अन्य सभी इच्छाएँ विषय-कषाय रुप है । उन इच्छाओं से तो आत्मा को नुकसान ही होता है ।

वास्तव में अभी तक जिनेश्वर देव की सही पहिचान ही नहीं हो पाई है, इसी कारण उन तारकों द्वारा निर्दिष्ट आज्ञाओं के पालन में भय लगता है ।

उन आज्ञाओं के रहस्य को समझ लिया जाय तो उन आज्ञाओं के पालन में उत्साह पैदा हुए बिना नहीं रहेगा ।

38 गुरु समर्पण की महिमा

(वाचना)

श्री जैन शासन सर्वोत्कृष्ट साधन है, उस शासन में निर्दिष्ट मर्यादाओं और अनुष्ठानों द्वारा आत्म-विकास कर सकते है । शासन में निर्दिष्ट उन सब आराधनाओं के मूल में एक सुंदर तत्त्व है-**गुरु तत्त्व !** जैन शासन में गुरु बिना नहीं चलता है । गणधर गौतमस्वामी भगवंत जैसे भी गुरु निश्रा में अपना सौभाग्य मानते थे और परम गुरु परमात्मा के पास छोटे बालक की तरह रहते थे और छोटे छोटे प्रश्न पूछते-भगवंत ! यह क्या ? तत्त्व क्या ? जीव क्या ? अजीव क्या ? प्रभु भी 'हे गौतम !' कहकर उन प्रश्नों का जवाब देते थे ।

वर्तमान समय में बडे से बडे आचार्य भगवंत भी छोटी में छोटी क्रिया भी गुरु स्थापित **'स्थापनाचार्यजी'** के समक्ष करते है । इसी से सिद्ध होता है कि, जैन शासन में 'गुरु' का कितना महत्त्व है । 'गुरु-निश्रा' के बिना अपना उद्धार नहीं है । मन चंचल है, उसे खुश होते और नाराज होते समय नहीं लगता है । सतत विकल्प करता रहता है उन विकल्पों को शांत करने का एक ही उपाय है, उसे सन्मार्ग में जोडे, विकल्पों को शांत करने के लिए गुरु तत्त्व को समर्पित हो जाओ !

गुरु निश्रा न हो तो चाहे जितना अभ्यास करे या चाहे जितनी कठोर क्रियाएं करे परंतु विकल्प शांत नहीं होते हैं, बल्कि बढते है, जबकि गुरु निश्रा में समर्पित रहने मात्र से ही विकल्प शांत हो जाते है, **यही गुरु का सबसे बडा उपकार है ।**

'मुझे गुरु की निश्रा में ही रहना है !' इस प्रकार की संकल्प बुद्धि और **'गुरु की आज्ञा के पालन में ही सच्चा आनंद हैं !'** यही ज्ञान और क्रिया की परिपक्वता है । मात्र अक्षर ज्ञान की कींमत नहीं है परंतु ज्ञान से अपने विकल्प शांत हो, यही महत्त्व का है और मन के विकल्पों को शांत करने के लिए गुरु निश्रा ही महत्त्व की है ।

योगावंचक दशा को (योग की सफलता) को प्राप्त करने का यही उपाय है कि जिसे अपने अपने कर्म के अनुसार जो गुरु मिले हैं, उन्हे उत्तोमत्तम सर्वश्रेष्ठ मानकर चले । इस एक योग को सफल बनाए तो प्राप्त अन्य अनुकुल सामग्री लाखों गुणा फलदायी बने ।

महापुरुषों ने समुदाय को सागर की उपमा दी है गुरु निश्रित समुदाय में रहने से वह मुनि योगी आत्मा, गुणों से पूर्ण बनती है परंतु जो अपनी मति-कल्पना से समुदाय में छोटे छोटे दोष देखकर अलग होता है, गुरु निश्रा छोडता है, उस आत्मा को संयम में स्थिर रहना खुब कठिन होता है । अतः मन के विचारों को शांत करने के लिए अपने आपको भूलकर गुरु को समर्पित हो जाना चाहिये ।

अपनी जवाबदारी संपूर्ण अर्थात् `सुबह से शाम तक मुझे क्या करना ? किस प्रकार करना ? क्या भोजन करना ? कितना करना ? आदि गुरु भगवंत को सौंप देना चाहिये ।

स्वच्छंदता, स्वतंत्रता, विषय-कषाय, राग-द्वेष मोह ईर्ष्या आदि जो भाव रोग हमें लागू पडे है, उन्हें तोडने के लिए गुरु का आलंबन रामबाण औषध है । अन्य सभी औषध उसके बाद ही गुणकारी बनते है ।

यह बात विशेष ध्यान में रखनी चाहिये कि वर्तमान काल में मोक्ष मार्ग में गुरु ऊपर सद्भाव रखने के सिवाय तरने का अन्य कोई साधन नहीं है । मात्र गुरु प्रति रहे सद्भाव से ही तरने का है, अतः **कभी भी गुरु के अवगुण देखने का प्रयत्न नहीं करे ।** गुण देखकर उनके प्रति आदरभाव-सद्भाव बढाते रहना चाहिये ।

यदि भूल से भी गुरु प्रति अरुचि का अनुबंध चालू रहा तो अन्य भवों में गौतम जैसे गुरु मिलेंगे तो भी बहुमान भाव पैदा नहीं होगा । गुरु प्रति अरुचि का अनुबंध पडे, उसके पहले ही अत्यंत ही जाग्रत होकर समर्पित हो जाना चाहिये । अंत में गुरु प्रति आदर भाव बना रहे, इस हेतु मन में प्रभु से प्रार्थना करे 'हे परमात्मा ! बस, मुझे इतना दो कि गुरु महाराज के प्रति मेरा सद्भाव टिका रहे ।

गुरु प्रति सद्भाव का अनुबंध नहीं पडा हो तो भविष्य में गुरू मिलेंगे तो भी निश्रा बेकार जाएगी । क्योंकि आज की विराधना से बंधे हुए

दुष्कर्म के योग से उसे गुरु के प्रति सद्भाव टिकानेवाला नहीं है । अतः भविष्य में संयम मिलेगा तो भी आराधक भाव नहीं आएगा । बल्कि विराधक भाव की परंपरा चलेगी, उस समय करुणा बुद्धि से गुरु भगवंत हमारे लिए जो जो उपाय बताएंगे, वे हमें उल्टे ही प्रतीत होंगे । उस समय अपने 'गुरु' से भी 'दूसरे' ज्यादा अच्छे लगेंगे, अतः वह और ज्यादा गुरुद्रोही बनेगा ।

आज अनेक जगह ऐसा दिखता है, तब महापुरुषों के ये वचन याद आते है कि भवांतर में हुई छोटीसी विराधना भी अपनी आत्मा को कितनी भयंकर स्थिति में डाल देती है । दूसरे अच्छे लगेंगे और खुद के ही अरुचिकर लगेंगे, परंतु यह आत्मा का कम भाग्य ही है ।

गुरु की आज्ञा में रहे और उनसे दूसरों को अधिक माने, तो उसमें भी गुरुद्रोह है और वह गुरुद्रोह भयंकर है ।

गुरु के प्रति सद्भाव पैदा नहीं हुआ तो अनंत भवों तक भी सच्चे गुरु नहीं मिलेंगे । तब गुरु उसी भव में मोक्षगामी होंगे तो भी अपना उद्धार नहीं होगा । अतः सुगुरु होंगे तो भी हमें विश्वास नहीं आएगा ।

जो व्यक्ति स्वयं का विचार करता है, उसका विचार गुरु छोड देते है, क्योंकि दो व्यक्ति एक ही काम करने जाएंगे तो काम बिगड जाएगा, अतः गुरु उपेक्षा भाव रखते है ।

गुरु को सन्मानपूर्वक नहीं सुनने से अनादेय और दुर्भाग्य कर्म का तीव्र बंध होता है, फल स्वरुप प्रत्येक भव में उसका वचन किसी को पसंद नहीं पडता है ।

लाखों मनुष्यों को अप्रसन्न करने से जिस कर्म का बंध नहीं होता हैं, उससे अधिक **निकाचित** अशुभ कर्म का बंध, गुरु को एक क्षण के लिए अप्रसन्न करने से होता है ।

उसी प्रकार लाखों लोगों को प्रसन्न करने से जो लाभ होता है, उससे अधिक लाभ गुरु को एक क्षण प्रसन्न करने से होता है ।

गुरु के प्रति रहा पूज्य भाव चला गया अर्थात् गुरु पास में होने पर भी गुरु से दूर हो गए । गुरु के दिल में से स्थान निकल जाने के बाद

इस भव में भी अनेकों की लातें खानी पडती हैं, कठोर वचन सुनने पडते है और परिणाम स्वरुप सिर्फ क्लेश ही होता है ।

गुरु के प्रति संबंध दृढ होता है तो समस्त जगत् उसका अनुसरण करता है । एक गुरु को मान देने से समस्त जगत् मान देता है । **गुरु के प्रति हृदय में पूर्ण बहुमान भाव हो तो वह जगत् में महान् बनता है, यावत् तीर्थंकर पद की संपदाएं मिलती है ।**

गुरु की आज्ञानुसार जिस समय जिस वडिल-ज्येष्ठ की निश्रा में रहते हैं, उन्हे गुरुतुल्य मानने से उपरोक्त सभी लाभ प्राप्त होते है ।

अपनी आत्मा को संसार में भटकानेवाला अहंकार है । अहंभाव, **'मैं कुछ हूँ'** इस अभिमान भाव को तोडने के लिए गुरु निश्रा जरुरी है ।

संयम जीवन में सुबह से शाम तक जो कुछ कार्य करते है, और उसमें जो सफलता मिलती है, उसे यदि **'गुरुकृपा'** से माने तो शुभ अनुबंध पडता है । इससे **'गुरु आज्ञा पालन'** में आनंद आएगा ।

'मैं करता हूँ' ऐसा मानेंगे तो अहंकार का पोषण होगा । जो हानिकारक है ।

'जिसे गुरु आज्ञा पालन पसंद हो, उसी को भविष्य में उत्तमोत्तम गुरु की प्राप्ति होती हैं और स्वयं गुरुपद पाता है ।

साधुपने में सभी कार्य गुरु म. को पूछकर ही करने के होते है प्रातःकाल में हम आदेश मांगते हैं **'बहुवेल संदिसाहुं' 'बहुवेल करशुं'** ये दो आदेश मांगकर हम गुरु को निवेदन करते हैं कि **'आंखों की पलके और श्वासोच्छवास जैसी क्रिया में बारबार पूछना संभव न होने से, उसे छोडकर अन्य जो कुछ भी करने का होगा, वह आपकी आज्ञा लिये बिना नहीं करुंगा ।'**

ज्यों ज्यों गुरु आज्ञा पालन पसंद पडेगा, त्यों त्यों गुरु भी अधिक आनंद से और निःसंकोच होकर आज्ञा करेंगे, इससे अपना आत्म-कल्याण भी शीघ्र होगा ।

आज गुरु को आज्ञा करने में संकोच का अनुभव होता है, यह अपने कम भाग्य की निशानी है ।

गुरु से शिष्य डरे, यह शिष्य का सद्‌गुण कहलाता हैं, परंतु शिष्य से गुरु डरे, यह शोभास्पद नहीं है । गुरु आज्ञा की रुचि रखने से गुरु के हृदय में शिष्य का स्थान बना रहता हैं और वही शिष्य का महान उदय है ।

शिष्य के हृदय में गुरु का स्थान हो तो वह शिष्य भी भाग्यशाली माना जाता है, परंतु गुरु के हृदय में शिष्य का स्थान रहे तो शिष्य में रहा आज्ञा पालन का गुण परिपक्व हुआ कहा जाएगा ।

गुरु को जो पसंद हो, वह स्वयं को पसंद पडे, जो गुरु की इच्छा, वह स्वयं की इच्छा, ऐसा समर्पण भाव आए बिना गुरु के हृदय में स्थान नहीं पा सकते है और जब तक ऐसा समर्पण भाव नहीं आया हो तब तक स्वयं माने कि वीतराग परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट और वर्तमान संयोगों में पालन हो सके ऐसा साधुपना मुझ में नहीं आया है ।

दीक्षा लेते समय सकल संघ के सामने हमने अपना सर्वस्व गुरु को सौंप दिया है, अब अपना कुछ रहता नहीं है अर्थात् हमने अपनी मन-वचन और काया गुरु को सौंप दी है । गुरु की आज्ञा को सफल बनाए तो आत्मा में छिपी हुई महान शक्तियाँ प्रगट होती है । **अपनी शक्तियों की चाबी गुरु महाराज के पास में है, गुरु कृपा रुप चाबी के सिवाय वे शक्तियाँ खिलती नहीं है ।**

स्थूलभद्र महामुनि का विजय और सिंहगुफावासी मुनि का पराजय, इसमें मुख्य कारण गुरु की साहजिक प्रसन्नता और अप्रसन्नता ही थी । अपने प्रभाव से क्रूर सिंह को भी सौम्य बना देना, सामान्य बात नहीं है फिर भी अपना मिथ्याबल बताने गए तो कोशा वेश्या के आगे हार खा गए ।

गुरु निश्रा का बल तभी प्रगट होता है, जब हम आनंदपूर्वक गुरु निश्रा में रहे, उससे अपना वचन भी आदेय बनता है ।

अपनी आराधना बढाने के लिए स्वाध्याय आदि सातों मांडली की विशेष भक्ति करनी चाहिये । `भक्ति का मुझे अवसर मिला है, शरीर भी अनुकूल है अतः जितना लाभ मिले, उतना ले लूं ।' इस प्रकार वृद्धिंगत परिणाम से भक्ति करने से वचन भी आदेय बनता हैं, संपर्क में आनेवाला नास्तिक भी आस्तिक बन जाता है, इस योग्यता पाने का एक ही उपाय है

गुरु की कृपा प्राप्त करो, उनके आशीर्वाद लो ।

अपने संयम, शरीर व आत्मा की चिंता करनेवाले गुरु तो महान पुण्यानुबंधी पुण्य से ही प्राप्त होते है । अपनी परिणति सुधरे, ज्यों ज्यों पर्याय बढे, त्यों त्यों सरलता, नम्रता, स्वाध्याय, प्रेम, प्रभुभक्ति, जीव मैत्री आदि गुण अस्थिमज्जावत् बनते जाय, ऐसी चिंता करनेवाले गुरु की प्राप्ति महान् भाग्योदय से ही होती है ।

गुरु अल्पज्ञानी हो तो भी उनके प्रति शुभ-अनुबंध रखने से अपना विकास है और उनकी उपेक्षा-अनादर करने से अशुभ का अनुबंध पडने से भव भ्रमण निश्चित है ।

मन को समझाए कि जब मैंने संयम लेने का निश्चय किया, तब उन्हीं गुरु ने मुझे तारा है । उस समय मेरे भाव कैसे थे, और आज कैसे है ? बस इस प्रकार आत्म चिंतन करेंगे तो अपनी भूल भी सुधर जाएगी और भूल नहीं होगी तो विकास को वेग मिलेगा ।

इस काल में भी गुरु को समर्पित महात्मा हैं, गुरु की इच्छा वह मेरी इच्छा, गुरु की पसंद, वह मुझे पसंद मेरा सब कुछ उनका हैं, ऐसा जीवन जीएंगे तो अपने संपर्क में आनेवाले भी बिना उपदेश, बहुत कुछ प्राप्त कर लेंगे, सभी ऐसी दशा प्राप्त कर शीघ्र कल्याण साधो, यही एक सदा की शुभाभिलाषा ।

राम-वाणी

अर्थ-काम की प्राप्ति पुण्य कर्म के संयोगाधीन है ।
अतः उसका अवश्य वियोग है ।
मोक्ष का सुख संयोगजन्य नहीं हैं, अतः
उसका कभी वियोग नहीं होता है ।

39 सम्यग्दर्शन का स्वरूपदर्शन

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये मोक्ष के उपाय हैं। इनमें सम्यग्दर्शन के अनेक पर्याय हैं। सम्यग्दर्शन को जैसे **'दर्शन'** कहा जाता है वैसे **'मुक्तिबीज'** भी कहा जाता है। **'सम्यक्त्व'** भी कहा जाता है। **'तत्त्ववेदन'** भी कहते हैं। **'दुःखान्तकृत'** भी कहा जाता है। **'सुखारम्भ'** भी कहा जाता है।

सकल कर्मों की निवृत्ति रूप मुक्ति-फल का बीज सम्यग्दर्शन है। आत्महितनाशक सामग्री पर अरुचि और आत्महितकारक सामग्री पर रुचि होना सम्यग्दर्शन है। सच्चा तत्त्ववेदन आत्मा को संसार से उदासीन बनाता है। कर्मजनित गाढ़ रागद्वेष के परिणामरूप ग्रन्थि का भेद हुए बिना यह सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता।

दर्शन :– आत्मा के यथावस्थित स्वरूप को समझने में अति उपयोगी होने से इसके लिए **'दर्शन'** शब्द बहुत ही सार्थक है। सम्यग्दर्शन की सहायता के बिना जीवादि तत्त्वों की सच्ची समझ नहीं हो सकती।

मुक्ति का बीज :– सकल कर्मों की निवृत्ति रूप मुक्ति सम्यग्दर्शन का फल है और इस फल का बीज सम्यग्दर्शन है। अनेक पाप-इच्छाओं में रमती हुई आत्मा जब सम्यग्दर्शन प्राप्त करती है तब उस सम्यग्दृष्टि आत्मा की रमणता केवल मुक्ति की इच्छा में ही होती है। सम्यग्दर्शन-प्राप्त-आत्मा की अन्य इच्छाओं में रमणता नहीं होती। सम्यग्दर्शन, एक ऐसा गुण है कि इस गुण को प्राप्त-आत्मा संसार-सुख को सच्चा सुख मानने से विमुख बन जाती है। 'सम्यग्दर्शन' नाम के गुण के प्रताप से आत्मा सच्ची परिणामदर्शी बन जाती है, अतः संसार के सुखों को वह दुःख रूप और दुःख के कारण मानती है। सुख के लिए तो वह मोक्ष की ही इच्छा करती है। इसलिए वह ज्ञान और चारित्र को पाकर परिणाम के फलरूप मुक्ति को प्राप्त करने वाली होती है। इस कारण सम्यग्दर्शन को 'मुक्ति का बीज' कहा जाता है। धर्मचिन्ता आदि अंकुर के क्रम से सम्यग्दर्शन मुक्ति रूप फल का जनक होकर उसका आद्य कारण गिना जाता है।

सम्यक्त्व :– सम्यग्दर्शन को सम्यकत्व भी कहते हैं । सम्यकत्व अर्थात् आत्मा का सम्यग्भाव । आत्मा के मिथ्यात्व रूप मल के विवक्षित अपगम से आत्मा का परम निर्मलीभावरूप जो सम्यग्भाव, वही सम्यक्त्व है । क्षायिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व का सत्ता में से भी अपगम होता है । क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व का रसोदय रूप में अपगम होता हैं और औपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व के उदय का अभाव होता हैं । इस प्रकार योग्यतानुसार मिथ्यात्व के अपगम से आत्मा में जो परम निर्मलता पैदा होती है, यही आत्मा का स्वभाव है और इसी का नाम सम्यक्त्व है । सम्यग्दर्शन का यही स्वरूप होने से इसे सम्यक्त्व भी कहते हैं ।

हेय में उपादेय बुद्धि और उपादेय में हेय बुद्धि करानेवाले मिथ्यात्व का उस प्रकार का अभाव हुए बिना यह गुण आत्मा में प्रकट नहीं होता । इस गुण के प्रकट होने के बाद आत्मा बहुत ही विवेकी बन जाती है । उसका विवेक उसे वस्तु के स्वरूप में स्थिर रखता है । इसी कारण इस गुण का स्वामी राज्य आदि का उपभोग करने पर भी राज्यादि को कभी उपादेय कोटि में नहीं मानता । इस गुण की उत्कट दशा में रमण करती हुई आत्मा तो बंध के कारणों में भी निर्जरा कर सकती है । इस गुण की स्वामी आत्मा संसार की सच्ची दृष्टा बन कर रहती है । भोक्ता होते हुए भी दृष्टा बने रहना, इस गुण के प्रभाव से संभव बन जाता है ।

पुण्य का भोग हो या पाप का भोग हो, दोनों ही इस गुण से निर्जरा के कारण बन सकते हैं । यह गुण दु:ख की सामग्री की अपेक्षा भी सुख की सामग्री में बहुत ही विरक्तता पैदा कर देता है । इस गुण की अनुपमता को यथार्थ रूप में अनुभव कराना, अनुभव बिना संभव नहीं है । इस गुण को प्राप्त करने वाले संसार के मेहमान बन जाते हैं, अर्थात् इस गुण के स्वामी संसार से प्रतिकूल बनते हैं तब संसार उनके अनुकूल बनता है । संसार में सच्चे सुख का अनुभव भी इस गुण के स्वामियों के लिए ही सुरक्षित है ।

तत्त्ववेदन :– सम्यग्दर्शन के प्रभाव से अनन्त उपकारी श्री अरिहन्त परमात्मा द्वारा प्ररूपित तत्त्वों का वेदन अर्थात् श्रद्धान आत्मा को होता है,

इसलिए सम्यग्दर्शन को 'तत्त्ववेदन' भी कहा जाता है । **सच्चा तत्त्ववेदन आत्मा को संसार से उदासीन बनाता है । अनुकूल सामग्री में होने वाली आसक्ति और प्रतिकूल सामग्री में होने वाला उद्वेग ये दोनों आत्मा के लिए हानिकर है ।** जब इन दोनों का विनाश होता है तब सच्चा उदासीन भाव आता है । श्री जिनेश्वरदेवों द्वारा प्ररूपित जीवादि के स्वरूप की सच्ची श्रद्धा आत्मा पर चढ़े हुए मोह विष का नाश करने के लिए जड़ी-बूटी का काम करती है । जगत् को उसके स्वरूप में जानने के लिए यह तत्त्ववेदन बहुत ही आवश्यक है । वैराग्य के लिए भी भवस्वरूप का ज्ञान आवश्यक है और इस ज्ञान के लिए तत्त्ववेदन बहुत जरूरी है ।

सम्यग्दर्शन के साथ दुःख का नाश और सुख का आरम्भ :–

कर्मजनित गाढ़ राग-द्वेष के परिणाम रूप ग्रन्थि का भेद हुए बिना यह सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता । इस ग्रन्थिभेद के पूर्व आत्मा को निबिड़ कर्मजन्य जो संसार-दुःख होता है, वह ग्रन्थिभेद होने के बाद नहीं रहता । अतः उपकारियों ने इस सम्यग्दर्शन को दुःखान्तकर भी कहा है । सचमुच, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से किसी अपेक्षा से दुःख का अन्त हुआ, यह कहने में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है । सम्यग्दर्शन का स्वामी यदि उत्कट परिणाम का स्वामी बन जाता है तो वह उसी भव में क्षपकश्रेणी प्राप्त कर, केवलज्ञान का स्वामी बनकर सिद्धिपद का भोक्ता बन जाता है । यद्यपि ऐसा किसी-किसी के लिए ही होता है, फिर भी होता तो है, यह निर्विवाद है । इस कारण भी इस सम्यग्दर्शन को दुःखान्तकर कहने में कोई बाधा नहीं है और इसी कारण इसे सुख का आरम्भ करने वाला भी कहा जाता है । जो दुःखान्तकारी होता है, वह सुख का आरम्भक होता है, यह भी निर्विवाद है । दुःख का अन्त करने वाला सम्यग्दर्शन सुख का आरम्भ करने वाला भी होने से दुःखान्तकर की तरह सुख का आरम्भक भी कहा जाता है । सम्यग्दर्शन के साथ ही आत्मा में सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है अतः अज्ञान रूप दुःख गया और सम्यग्ज्ञान रूप सुख शुरू हुआ, यह भी निःशंक ही है ।

सम्यग्दर्शन अर्थात् तत्त्वरुचि :– आत्महितनाशक सामग्री पर अरुचि और आत्महितकारक सामग्री पर रुचि होना सम्यग्दर्शन है । ऐसी रुचि आना सरल बात नहीं है । अनन्त ज्ञानियों द्वारा प्ररूपित तत्त्वों को और इन तत्त्वों के स्वरूप को दिल में नि:शंक रूप से स्थापित करने जितनी योग्यता आत्मा में आने के बाद ही सम्यग्दर्शन का आविर्भाव होता है । ऐसे सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त आत्मा तो सामग्री सम्पन्न दशा में अनन्त ज्ञानियों द्वारा प्ररुपित तत्त्वों के स्वरूप को जानने की अभिलाषा वाली ही होती है । परन्तु जो इस गुण को प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें भी अनन्त ज्ञानियों के वचनों के प्रति श्रद्धालु बनकर सद्गुरुओं द्वारा अनन्त ज्ञानियों द्वारा प्ररूपित तत्त्वों के स्वरूप को जानने का प्रयत्न करते रहना चाहिए ।

राम-वाणी

जिसमें भव का भय न हो, मोक्ष का प्रेम न हो और
इन दोनों को पैदा करने का मनोरथ भी न हो तो
ऐसे व्यक्ति का धर्म, आज्ञा-बाह्य माना जाता है ।
वह धर्म पुण्यानुबंधी पुण्य का कारण नहीं बनता है ।

40

मुनि को मार्गदर्शन

साधु अर्थात् जो सिंह की अदा से संसार का त्याग करता है और हिरण की तरह संसार से सदैव भयभीत रहता है ।

जिसे पूरा संसार–`लो ! लो' कहकर अच्छी से अच्छी वस्तु प्रदान करना चाहता है और वह `खप नहीं है, खप नहीं है'–कहने में अपनी खुमारी मानता है ।

साधु अर्थात् जिसके बैठने, उठने, चलने, बोलने आदि में सर्वत्र धर्म दिखाई देता है । साधु अर्थात् मूर्तिमन्त धर्म ! साधु अर्थात् मूर्तिमन्त त्याग, साधु अर्थात् मूर्तिमन्त वैराग्य ।

सच्चे साधु की जिन्दगी तो लड़ने में ही जाती है । वह या तो कर्म से लड़ता है या कर्म का पक्ष लेनेवालों से लड़ता है ।

साधुपने का स्वीकार अर्थात् संघर्ष का प्रारम्भ, साधु अर्थात् दिन-रात कर्म-शत्रु के सामने युद्ध कर रहा बहादुर सैनिक ।

गाय जहाँ चरती है, वह खेत ऊपर से हराभरा बनता है । साधु की चर्या भी ऐसी ही होती है । साधु जहाँ गोचरी के लिए जाता है, वहाँ धर्म भावना हरी-भरी बनती है क्योंकि साधु भी गाय की तरह थोड़ा-थोड़ा लेता है ।

चरने का काम तो गाय व गधा दोनों करते है परन्तु दोनों में फर्क है । गाय ऊपर-ऊपर से इस प्रकार चरती है कि खेत हरा-भरा रहता है परन्तु गधा तो ऊपर से प्रारम्भ कर मूल तक ऐसा चरता है कि खेत उजड़ जाता है ।

मात्र व्यापार करने से लाभ नहीं होता है, बल्कि समझदारी से जो व्यापार करता है, उसे लाभ होता है । अन्यथा मूलधन भी खो बैठने की बारी आ जाती है । इसी प्रकार साधु बनने मात्र से कल्याण नहीं होता है । साधु बनने के बाद साधुपने के प्रति वफादार रहने से व साधुपने का पूर्ण पालन करने से ही कल्याण होता है ।

शास्त्र की आँख से देख-देखकर जो चलता है, देख-देखकर जो

बोलता है और देख-देखकर जो सब कुछ करता है, वही सच्चा साधु है ।

पुण्योदय या पापोदय में जो मोहित हो जाय वह साधु नहीं है । यह संसार तो पुण्य-पाप का नाटक है ।

आज हाथ जोड़ने वाला कल सामना भी कर सकता है अतः कोई हाथ जोड़े तो खुश न हो और कोई सामना करे तो दुःखी न हो ।

संसार तो पुण्य-पाप का नाटक है, उसे तो मात्र दृष्टा बनकर ही देखना होता है, उसमें न तो लीन बनने का है और न ही दीन बनने का है । यह बात बराबर समझ में आ जाय तो साधुपने में आनन्द ही आनन्द है ।

समस्त प्रकार की उपाधि का मूल यह शरीर है । यह शरीर ही संसार में भटकानेवाला है । सभी को सबसे अधिक ममत्व अपने शरीर पर होता है ।

साधु बनकर शरीर का गुलाम बननेवाले जीव के लिए नरक व तिर्यंच ये दो ही गतियाँ हैं ।

शरीर की ही संभाल रखने की इच्छावाले संयम का रक्षण नहीं कर पाते हैं ।

शरीर द्वारा साधना करे, वह साधु ।
शरीर के लिए साधना छोड़े, वह संसारी ।

स्व की प्रशंसा और पर की निन्दा-ये दो भवाभिनन्दी के लक्षण हैं । भवाभिनन्दी अर्थात् संसार में मस्ती माननेवाला जीव ।

जिसे स्व-प्रशंसा की भूख नहीं और पर निन्दा की बुरी आदत नहीं, वही भगवान के शासन का सच्चा साधु है । सच्चा साधु तो आत्मानन्दी ही होता है । जिसमें अध्यात्म भाव न हो, उसके लिए शास्त्र भी शस्त्र बनता है और ज्ञान भी अज्ञान की ही वृद्धि करनेवाला बनता है ।

जो मोह की आज्ञा में हो वह अध्यात्मी नहीं, मोह को अपनी आज्ञा में करे, वह अध्यात्मी कहलाता है ।

साधु उसी का नाम है, जो सदा अध्यात्म की मस्ती लूटनेवाला हो ।

भगवान के शासन को पाया हुआ चारों प्रकार का संघ भव का नाश करने की ही भावनावाला होता है और इसी कारण मैत्री आदि चार और अनित्य आदि बारह भावनाओं में रमण करनेवाला होता है ।

बारह में से प्रथम छह भावनाएँ संसार से विमुख बनानेवाली हैं और बाद की छह भावनाएँ धर्म के सम्मुख बनानेवाली हैं । इसी कारण शास्त्रकारों ने स्थान-स्थान पर प्रयत्न-पूर्वक भावनाओं से भावित होने का विधान किया है ।

जिसे भव में मस्ती नहीं, वही भाव में मस्त हो सकता है ।

भव में रमण करे, वह संसारी ।

साधुता में रमण करे, वह साधु ।

समस्त पापों से निवृत्ति अर्थात् सर्वविरति, संसार का सुख लेश भी नहीं चाहिए, उसी का नाम सर्वविरति ।

साधु को यह पता होना चाहिए कि अच्छा दिखाने की इच्छा पाप है और अच्छा (पवित्र) बनने की इच्छा धर्म है ।

हृदय से जो कोमल हो और काया से खूब कठोर हो, वही आत्मकल्याण साध सकता है ।

'आज्ञा' में रहना उसी का नाम सच्ची निश्रा है । ऐसा आज्ञांकित साधु गुरु से दूर-सुदूर हो तो भी गुरु का निश्रावर्ती ही कहलाता है । जबकि आज्ञा से रहित गुरु के पास रहने वाला, गुरु के पास बैठने वाला निश्रावर्ती नहीं कहलाता है ।

संयम पाने के बाद भी संयम अच्छी तरह पाले नहीं, संयम में चित्त न रहे, संयम में रस न आये, संयमपालन का मन न हो और असंयम की और मन ढलता रहे तो आत्मा की दुर्गति ही होती है ।

41

ब्रह्मचर्य-व्रत

परम और चरम आनन्द की अनुभूति ब्रह्मचर्य की सिद्धि द्वारा ही प्राप्त हो सकती है । आत्म-स्वरूप में लीन रहना-यही वास्तविक ब्रह्मचर्य है । इसके लिए इन्द्रिय व मन का संयम अनिवार्य है । विजातीय तत्त्व का सहवास ब्रह्मचर्य का नाश करता है, उससे बचने के लिए नौ प्रकार की गुप्तियों का पालन अनिवार्य है । नौ गुप्ति की किलेबन्दी से सुरक्षित ब्रह्मचर्य ही आत्मा को परम व चरम सुख की अनुभूति कराता है ।

ब्रह्मचर्य के अवर्णनीय आनन्द की अनुभूति के लिए ब्रह्मचर्य में स्खलना पहुँचाने वाले निमित्तों से दूर रहना चाहिए । जैनशास्त्र में नौ प्रकार की गुप्तियाँ बतलाई है । ब्रह्मचर्यरक्षक इन नौ गुप्तियों का पालन करने से ब्रह्मचर्य का पालन अत्यन्त सुगम हो जाता है ।

अब्रह्म आत्मा का रोग है–और वह एक प्रकार की खुजली है । जन्म से ही खुजली के दर्दी को नीरोग अवस्था के सुख की कल्पना भी न आये, किन्तु इतने मात्र से ही क्या नीरोग अवस्था के सुख का अपलाप हो सकता है ?

जैनदर्शन में ब्रह्मचर्य को आत्मा की सहज अवस्था कहा गया है । आत्मा की इस सहज अवस्था और आत्मा के स्वाभाविक सुख को पाने के लिए साधुओं को जीवन पर्यन्त सभी संयोगों में ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों का पालन करने का होता है ।

उत्तम गृहस्थ को भी जब तक सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य न स्वीकार ले, तब तक उन्हें भी स्वपत्नी सिवाय अन्य समस्त स्त्री के साथ विषयसंग का त्याग करना चाहिए और स्व-स्त्री में भी विषय-प्रसंग सिवाय ब्रह्मचर्य की गुप्तियों का पालन करना चाहिए, जिसके प्रभाव से धीरे-धीरे आगे बढ़कर सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन में सक्षम बनकर परम और चरम कक्षा के सहज आनन्द को पा सकते हैं । इसी कारण ब्रह्मचर्य की महिमा का गान `ए व्रत जगमां दीवो' आदि पदों द्वारा किया गया है ।

स्वभावो ब्रह्मचारित्वं, दया सर्वेषु जन्तुषु ।
अनुग्रहश्च दानं च, शीलमेतद् विदुर्बुधाः ।।

श्री वीतराग परमात्मा के शासन में शीलधर्म का स्वरूप बतलाते हुए महापुरुष फरमाते हैं कि आत्मा का आत्मस्वभाव में रहना ही शील है क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव में हो तभी अच्छी लगती है । कोई भी वस्तु अपने स्वभाव को छोड़ अन्य में मिले तो वह अच्छी नहीं लगती है । शक्कर मीठी ही होती है, नमक खारा ही होता है, अफीम कडवी ही होती है । वैसे ही आत्मा अपने स्वभाव में रहे तो शीलसम्पन्न कहलाती है ।

जिस शील का वर्णन करने का है, वह आज लगभग दिखाई नहीं देता है, क्योंकि स्वभाव को भूले हैं । जो जीव आत्मा में रमण करता है, वह ब्रह्मचारी होता है, जीवमात्र के प्रति दया वाला होता है । प्रत्येक का भला करने की भावना वाला होता है । उसके पास जो कुछ भी अच्छा हो वह दूसरों के अच्छे उपयोग में आये बिना रहता नहीं है ।

शास्त्रकारों ने दान को सभी गुणों का निधान कहा है, उसके साथ जब शील मिलता है तो उसका वर्णन नहीं हो सकता । इन दोनों का मिलन तो सोने में सुगन्ध जैसा है । दान सुवर्ण है व शील सुगन्ध है ।

आत्मा अपने स्वभाव में जीए, उसी का नाम शील है । झूठा नहीं करना और अच्छा ही करना-वही स्वभाव है । झूठ बोलना स्वभाव नहीं है । सच्चा भी हितकर हो तो ही बोले–अन्यथा मौन रहना वह स्वभाव है । यह स्वभाव आ जाए तो उसमें सभी गुण आ सकते हैं ।

उसे विषयसेवन पसन्द पड़े नहीं क्योंकि विषय का अर्थीपना ही पागल बनानेवाला है ।

भूख लगे बिना खाना नहीं और भूख लगने पर जो भक्ष्य हो वही विवेकपूर्वक खाना-ये दो गुण आ जाएँ तो हॉस्पिटल में जाना नहीं पड़े ।

हन कर्मवाले हैं किन्तु कर्म के परवश नहीं हैं । कर्म के अनुसार नहीं करना-यह स्वभाव जीवित हो, उसे ब्रह्मचर्य में ही आनन्द आए । उसके हृदय में सभी जीवों के प्रति दया होती है, क्योंकि अब्रह्म का सेवन जीव-हिंसा बिना नहीं होता है । उसके चिन्तन में भी दूसरे की भलाई का ही विचार होता है, अतः उसके हृदय में दान गुण स्वाभाविक होता है । तत्त्वज्ञानियों ने इसी को शील कहा है ।

ऐसा शील तुम्हें चाहिए ? मनुष्य संकल्प करे तो विवेकी और समझदार बन सकता है और स्वभाव का जीवन जी सकता है । दुःख में समाधि रखना और सुख में विरक्त रहना यह उसका (आत्मा का) स्वभाव है ।

इस शील गुण की महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि कदाचित् किसी को संयोगवश भीख मांग कर जीना पड़े परन्तु वह सदाचार सम्पन्न हो तो वह देवों को भी पूज्य है और जो सुभग अर्थात् जिसे देखते ही मनुष्य को प्रेम जगे किन्तु वह भी यदि शील सम्पन्न न हो तो उसका मुँह भी देखने जैसा नहीं है ।

जो जीव सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है, वह तो प्रशंसापात्र है ही किन्तु जिसमें यह ताकत न हो और स्व-स्त्री में सन्तोष रखकर परस्त्री का त्याग करता हो, वह भी सज्जन है । जिसमें दान गुण सहज हो, उसके लिए यह बात सहज है । यह गुण आने पर व्यक्ति की बातचीत का ढंग ही सुधर जाता है ।

धन और भोग को खराब माननेवाले का जीवन अनेक गुणों से महकता होता है, इस लोक में भी वह प्रशंसापात्र होता है ।

अपने यहाँ तीर्थंकरों की भाँति शील सम्पन्न श्रावकों के जीवन-चरित्र भी शास्त्रकारों ने लिखे हैं ।

शक्तिसम्पन्न को प्रतिदिन दान देना चाहिए और सदा शीलसम्पन्न रहना चाहिए । यह बात तुम्हारे हृदय में क्यों नहीं जँचती है-यही समझ में नहीं आता है । भोग की लालसा इतनी खतरनाक है कि यह गुण आने ही नहीं देती है ।

इसीलिए तो शास्त्रकार कहते हैं–``जो व्यक्ति समस्त पृथ्वी के भार को वहन करते हैं और शत्रु के प्रहार सहन करते हैं, वे जीव शीलरूपी भार को वहन करने में खच्चर के समान कमजोर हो जाते हैं ।''

शील के पालन के लिए तो सत्त्व चाहिए । अतः बड़े राजा-महाराजा भी इस शील का पालन नहीं कर पाते हैं किन्तु जो धन व भोग को बुरा मानता है, वह हँसते-हँसते इसका पालन कर सकता है । दुनिया के

बहादुर इसमें कमजोर हैं किन्तु शील का महत्त्व समझने वाली अबला भी शीलपालन में सबला बन जाती है और बड़े-बड़े राजाओं को भी सन्मार्ग पर ले आती है ।

महासतियों ने सब कुछ छोड़ा किन्तु शील का रक्षण किया । उनसे तो इस देश का इतिहास भरा हुआ है । इस देश में तो उदार व शीलवान् की प्रशंसा है ।

इस शील के प्रभाव से आत्मा में ऐसी शक्तियाँ जागृत होती हैं कि देव भी किंकर बन जाते हैं । जो व्यक्ति सुन्दर में सुन्दर ढंग से शील का पालन करता है उसे साधु बनने की ही इच्छा होती है । संसार के सुख के लिए कुछ भी बुरा न करना-उसी का नाम शील है । जब तक शरीर की ममता दूर न हो तब तक शीलधर्म आता नहीं है और भोगसुख खराब नहीं लगते हैं ।

श्री बलभद्रमुनि रूपसम्पन्न थे । एक बार वे गांव में गोचरी हेतु जा रहे थे । तभी गाँव के कुएं पर पानी भरने के लिए आई स्त्री उनके रूपदर्शन में तल्लीन हो गई और उसने घड़े के बजाय अपने बच्चे के गले में डोरी डाल दी । महामुनि ने यह दृश्य देखा । उन्हें अपने रूप पर तिरस्कार पैदा हुआ और तय कर दिया कि अब गोचरी के लिए गाँव में नहीं जाना और जंगल में ही रहना ।

शास्त्रकार कहते हैं कि मैथुन और परिग्रह समस्त पापों के मूल हैं । ये दो पाप जो छोड़ देता है, उसे हिंसा, झूठ व चोरी की जरूरत नहीं पड़ती है । ये दो पाप जीवित हैं, इसीलिए तो क्रोध, मान, माया और लोभ जीवित हैं और इनके कारण हि राग-द्वेष बलवान हैं । इन दोनों की गाढ़ आसक्ति के कारण मिथ्यात्व जीवित है, जिसके फलस्वरूप पाप, पाप ही नहीं लगता है ।

संसार में रहनेवाले अधिकांश जीव ये दो पाप करनेवाले होते हैं । परन्तु जिसका स्वभाव बदलता है उसे लगता है कि हम पापी हैं और पाप में बैठे हैं, वे जीव इन पापों को छोड़ने की ही चिन्ता में होते हैं ।

शास्त्रकार कहते हैं—रूपसम्पन्न को अधिक सावधान रहना चाहिए ।

रूप ही उपाधि का मूल है । कलिकाल में पाँच कल्पतरु कहे हैं, उसमें `सुभग' को भी कल्पतरु कहा है, परन्तु वह शीलसम्पन्न हो तो, अन्यथा उसके समान `कण्टकरूप' और कोई नहीं है । सब चला जाय तो भी परवाह नहीं किन्तु मेरा शीलधर्म नहीं जाना चाहिए । यह कब बन सकता है ? स्वभाव सन्मुख दशा आई हो तब । ऐसी दशा को प्राप्त आत्मा को संसार का सुख अच्छा नहीं लगता है । जिन्हें शीलधर्म का पालन करने का है, उन आत्माओं को संसार में रहना पड़े तो भी वे विषय-सुख को भयंकर ही मानते हैं । वे तो इस रूप, इस देह, इस यौवन को अनित्य समझते हैं । जो लोग भोग के अर्थी बने हैं, वे क्या न करें-कुछ नहीं कह सकते हैं । स्वयं के सुख में बीच में आए उनका खराब सोचते हैं और ताकत हो तो बुरा भी करते हैं ।

जिन लोगों ने अपनी इन्द्रियों को नियन्त्रण में नहीं रखा है, वे स्त्री हों या पुरुष, उन्हें अनेक पुरुष या स्त्री मिलने पर भी सन्तोष होने वाला नहीं है । इन्द्रियों के अधीन बना व्यक्ति राक्षस व पिशाच से भी भयंकर है । जो लोग इन्द्रियों के अधीन हैं, उन्हें कभी शान्ति मिलने वाली नहीं है ।

``हजारों नदियों के गिरने से भी सागर तृप्त नहीं होता है । ईंधन से अग्नि शान्त नहीं होती है, उसी प्रकार जीव अनादि से भटकता है, उसे चाहे जितने सुख मिल जायें तो भी वह तृप्त हुआ नहीं और होगा भी नहीं ।'' ``विष तो एक ही भव में मारता है, जबकि ये विषय तो आत्मा को भवोभव भटकाते हैं ।''

अन्त में, शीलधर्म का माहात्म्य गाते हुए कहते हैं कि-``चिन्तामणि, कल्पतरु और कामधेनु की महिमा को भी जिसने जीत लिया है, ऐसा शीलधर्म जगत् में सदा जयवन्त रहो । क्योंकि चिन्तामणि आदि तो मांगने पर ही देते हैं जबकि यह शील धर्म तो अकल्प्य वस्तु भी देनेवाला है और आत्मा को परमात्मा बनाकर स्वभाव में रमण करानेवाला है । इस शीलधर्म के स्वरूप को समझकर शीलधर्म के आराधक बनकर शीघ्र ही आत्मस्वरूप को प्राप्त कर परमपद को प्राप्त करो, यही शुभाभिलाषा ।

42 युवावस्था का सदुपयोग करें

सत्त्वशाली अवस्था का नाम ही युवावस्था है । जवान वय हो किन्तु सत्त्वहीन दशा हो तो वह वृद्धावस्था से भी अधिक खराब है । युवावस्था उसी को कहते हैं जिसमें आत्मा सत्त्वशाली हो ।...सफलता केवल सत्त्वशालिता पर ही निर्भर नहीं है, अपितु उसके सदुपयोग पर है ।

इस दुनिया में अन्य सब अवस्थाओं की अपेक्षा युवावस्था का सबसे अधिक महत्त्व है । युवावस्था के सदुपयोग और दुरुपयोग पर जीवन की सार्थकता व निरर्थकता का बड़ा आधार है । युवावस्था एक सामर्थ्यवाली अवस्था है, जिसमें यदि संकल्प करे तो व्यक्ति अपने संकल्प को सिद्ध कर सकता है । युवावस्था में यदि सन्मार्ग की साधना बन जाय तो आत्मा अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा विशिष्ट कोटि की साधना कर सकती है ।

युवावस्था में मन और इन्द्रियाँ मजबूत होती हैं । बाल्यावस्था विषयभोग के लिए योग्य नहीं होती है और वृद्धावस्था में शरीर शिथिल हो जाता है । जीवन की सफलता और निष्फलता का आधार इन्द्रियों के सदुपयोग और दुरुपयोग पर निर्भर है ।

युवावस्था द्वारा वास्तविक और शक्य लाभ उठाना हो तो उस अवस्था को योग्य दिशा में मोड़ देना चाहिए । इनमें यदि भूल हो गई तो भयंकर बरबादी हुए बिना नहीं रहती है ।

किसी कवि ने कहा है–

अतिवाहितमतिगहनं, विनाऽपवादेन यौवनं येन ।
दोषनिधाने जन्मनि, कि न प्राप्तं फलं तेन ?

अर्थ – जिस आत्मा ने अपने अतिगहन यौवन को अपवाद रहित होकर व्यतीत किया है, उसने दोष के भण्डार समान इस जीवन में कौनसा फल प्राप्त नहीं किया है ?

युवावस्था को सार्थक बनाना हो तो उसका सदुपयोग करना चाहिए, अकर्त्तव्य आचरण नहीं करना चाहिए और प्राण कण्ठगत आने पर भी

सुकर्त्तव्य का त्याग नहीं करना चाहिए । कृत्य-अकृत्य में भेद कर विवेकपूर्वक कृत्य का आचरण करना चाहिए । पौद्‌गलिक भाव को बढ़ानेवाली प्रवृत्ति अकृत्य है और आत्मस्वरूप को विकसित करनेवाली प्रवृत्ति कृत्य है ।

युवावस्था में मन और इन्द्रियाँ मजबूत होती हैं । अतः युवावस्था के सदुपयोग का पहला कर्त्तव्य है–इन्द्रियों पर अंकुश रखना । इन्द्रियों को नियंत्रण में रखना-जहाँ तहाँ भटकने नहीं देना, यही उनका सदुपयोग है और इन्द्रियों के अधीन बनना, यही उसका दुरुपयोग है ।

युवावस्था में इन्द्रियों पर अंकुश न रखा जाय तो वे महा-शाप रूप बन जाती हैं ।

अच्छे साधन की प्राप्ति होना जितना दुर्लभ है, उससे भी अधिक दुर्लभ उस साधन का सदुपयोग करना है । यौवन जैसे साधन द्वारा संसार के पार पहुँचा-जा सकता है । जो संसार के पार पहुँचना चाहता है उसे इस साधन (युवावस्था) को जैसे तैसे नष्ट नहीं करना चाहिए ।

जो जवानी में दीवाने बनकर कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भान भूल जाते हैं, वे अपना जीवन तो बर्बाद करते ही हैं, साथ में अनेक जीवों के जीवन को भी बर्बाद कर देते हैं ।

यौवन को बेदाग बनाना हो तो स्वच्छन्दता का त्याग कर योग्य की निश्रा स्वीकार करनी चाहिए । सभी युवक इस प्रकार जीवन जीकर स्व-पर का हित करने वाले बनें और परिणामस्वरूप मुक्ति सुख को प्राप्त करें, यही शुभाभिलाषा है ।

राम-वाणी

इस जीवन में साधु न बन सके तो
शैतान तो मत बनो !
संपूर्ण ब्रह्मचारी न बन सको तो कम से कम
व्यभिचारी तो मत बनो...

43

यात्रा करे, भवजल तरे

तीर्थ के अस्तित्व के साथ ही तीर्थयात्रा की महिमा जुड़ी हुई है । श्री भरत आदि दश क्षेत्रों में जब से तीर्थ की उत्पत्ति होती है, तभी से तीर्थयात्रा की महिमा प्रचलित है । श्री महाविदेह क्षेत्र में तो तीर्थ अनादि-अनंत है, अर्थात् वहाँ तीर्थयात्रा की महिमा भी अनादि अनंत है ।

तीर्थयात्रा के लिए यथाविधि गमन भवभ्रमण के निवारण का अमोघ उपाय है । उसमें भी श्रीसंघ के साथ छ'री के पालन पूर्वक तीर्थयात्रा के लिए गमन किया जाय तो उससे अवर्णनीय लाभ प्राप्त होता है ।

सामुदायिक तीर्थयात्रा के अनेक लाभ हैं । सामुदायिक यात्रा से सैकड़ों आत्माओं के लिए जिनपूजन और जिनवाणी-श्रवण का अवसर प्राप्त होता है । धर्म से अपरिचित अनेक आत्माएँ धर्म से परिचित होती हैं और धर्म से परिचित आत्माओं के भी सम्यग् दर्शन आदि निर्मल व दृढ़ बनते हैं ।

तीर्थयात्रा दरम्यान संघपति और यात्रिकों में उदारता, सदाचारशीलता, सहनशीलता और सद्विचारशीलता के चार गुण हों तो यात्रा दरम्यान विधि का पालन असंभव नहीं है । यात्रा दरम्यान ज्यों ज्यों विधि का पालन किया जाय त्यों त्यों प्रभु शासन की प्रभावना भी बढ़ती है ।

परमार्हत् श्री कुमारपाल महाराजा को 54 वर्ष की वय में राजगद्दी प्राप्त हुई थी । 70 वर्ष की वय में वे 12 व्रतधारी श्रावक बने थे, उस वय में उन्होंने श्री सिद्धगिरि का संघ निकालने का निश्चय किया ।

इतनी वृद्ध वय में भी उन्हें एक ही बार भोजन, संथारे पर शयन आदि विधिपूर्वक तीर्थयात्रा करने की इच्छा हुई क्योंकि वे यथाविधि यात्रा करके अपनी संसारयात्रा का अंत लाना चाहते थे ।

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य भगवंत हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा के साथ वे खुले पाँव चलते थे, एक बार आचार्य भगवंत ने उन्हें कहा,

``राजन् ! वृद्ध वय है, पैदल चलने में कठिनाई हो तो उपानह (मोजड़ी) अथवा वाहन का उपयोग कर सकते हो ।''

उस समय कुमारपाल महाराजा ने कहा, ``हे भगवन् ! आज तक मैंने बहुत भ्रमण किया है । अनंत काल से इस संसार में भटक रहा हूँ, इस बात को अलग रखें तो भी इसी जिंदगी में 25-25 वर्षों तक इस प्रकार भ्रमण किया है जहाँ खाने-पीने का ठिकाना नहीं था, मेरा वह सब भ्रमण निरर्थक गया, अब तो मैं प्रभु की आज्ञानुसार चल कर श्री सिद्धगिरि की यात्रा करूंगा क्योंकि यह भ्रमण संसार-भ्रमण को दूर करने वाला है ।''

यात्रा करते समय तीर्थयात्रा का हेतु भूलना नहीं चाहिए । यात्रा में किसी भी प्रकार का पौद्गलिक उद्देश्य नहीं रहना चाहिए, केवल संसार-निस्तार का ध्येय रहना चाहिए । संघ के साथ श्री सिद्धिगिरि ऊपर पहुँचने के बाद तीर्थाधिपति की स्तुति करते हुए कुमारपाल राजा ने प्रार्थना करते हुए कहा–

'हे भगवन् ! आप मुझ पर तुष्टिमान हुए हो...आपकी कुछ भी कृपादृष्टि मुझ पर हुई हो...और आपकी दृष्टि से मुझ में आपका सेवकपना प्रगट हुआ हो तो मेरी एक ही इच्छा है कि आपकी कृपा से आपका भिक्षुकपना (साधुत्व) प्राप्त हो ।'

कुमारपाल राजा ने छह खंड के राज्य की माँग नहीं की, बल्कि अठारह देश का राज्य भी छूट जाय ऐसे साधुपने की ही याचना की, क्यों ? क्योंकि कुमारपाल सुश्रावक थे, भगवान के सच्चे भक्त थे, भगवान की आज्ञा उनके हृदय में बसी हुई थी, दुनिया की समृद्धि का उन्हें लोभ नहीं था, किन्तु वे मोक्षलक्ष्मी के उपासक थे । कर्म रूपी जड़ के योग से अपनी आत्मा को मुक्त बनाने की उनकी इच्छा थी ।

जिन आत्माओं का आत्म-स्वरूप प्रकट हुआ है, वे आत्माएँ तीर्थरूप हैं । इसी प्रकार आत्म स्वरूप को प्रकट करने के साधन भी तीर्थ रूप हैं । आत्म स्वरूप को प्रकटाने के लिए रत्नत्रयी की आराधना जरूरी है, इसी कारण ज्ञानियों ने रत्नत्रयी को मोक्षमार्ग कहा है । सम्यग्

दर्शन, ज्ञान और चारित्र रत्नत्रयी कहलाते है । ये तीन पदार्थ जहाँ-जहाँ से मिलते हों, वे सभी स्थान तीर्थ कहलाते है । रत्नत्रयी का आराधक वर्ग भी तीर्थरूप है ।

स्थावर तीर्थ की यात्रा के लिए हम जा रहे है । इस यात्रा का हेतु क्या है ? इस यात्रा के फल के रूप में क्या पाने की इच्छा है ?

तीर्थयात्रा के फलस्वरूप अपनी आत्मा को तीर्थरूप बनाने की ही भावना होनी चाहिए, अर्थात् तीर्थयात्रा के योग से अपनी आत्मा में रत्नत्रयी प्रकट हो, ऐसी अभिलाषा होनी चाहिए । इससे विपरीत अभिलाषा हो तो आप सच्चे तीर्थयात्रिक नहीं है ।

'विषय-कषाय की अधीनता बुरी चीज है ।' ऐसी प्रतीति जब तक न हो तब तक संसार से तारनेवाले तीर्थ के ऊपर प्रेम कैसे पैदा होगा ?

हृदय में से विषय की लालसा दूर न हो और उन विषयों के निमित्त होनेवाले कषाय खटके नहीं तथा आत्मा को विषय-कषाय रूप संसार से पार उतरने की भावना न जगे, तब तक तीर्थ के प्रति सच्चा प्रेम पैदा नहीं हो सकेगा ।

तीर्थ की सेवा द्वारा जिन आत्माओं में संसार से निस्तार पाने की इच्छा पैदा हुई है, वे ही तीर्थसेवक कहलाने योग्य हैं । अल्प संसारी आत्माओं के दिल में ही तीर्थ का तारक स्वरूप पसंद पड़ता है ।

'संसार सागर से तैरने में प्रबल निमित्त रूप रत्नत्रयी की प्राप्ति के लिए हम तीर्थ-यात्रा करते हैं' इस ध्येय वाला वर्ग भी तीर्थरूप बन जाता है ।

तीर्थ और तीर्थयात्रा शब्द का प्रयोग जहाँ तहाँ करना ठीक नहीं है । घूमने-फिरने व हवा खाने का स्थान तीर्थ नहीं है । मौज-शौक या घूमने के लिए जाना `तीर्थयात्रा' नहीं है ।

विषय कषाय की अधीनता संसार है, तीर्थयात्रा के योग से आत्मा विषय-कषाय की अधीनता से मुक्त बननी चाहिए । आत्मा के गुणों का प्रकटीकरण, यही आत्मा का निस्तार है । जब तक आत्मा गुणमय स्वाभाविक दशा प्राप्त नहीं करती है, तब तक आत्मा का निस्तार नहीं हो पाया है, वह

निर्विवाद बात है । आत्मगुणों के प्रकाशन के लिए विषय-कषाय की मंदता अनिवार्य है, तीर्थ के योग से आत्मा के विषय-कषाय मंद पड़ते हैं, इसीलिए तीर्थों की स्पर्शना करने की है ।

नाम का मोह छोड़ो :–संघपति के रूप में प्रसिद्धि पाने के लिए चाहे जितना खर्च करो, उसका कोई अर्थ नहीं है, प्रसिद्धि तो तुच्छ वस्तु है, उसके सामने तो नजर भी मत डालो । प्रसिद्धि मिले तो ही कार्य सफल हुआ, ऐसा माननेवाले अज्ञानी है ।

प्रसिद्धि तो इन सत्कार्यों के पराधीन है । सत्कार्य करनेवाले को प्रसिद्धि मिलती ही है । फिर भी किसी कारण प्रसिद्धि न मिले तो भी जो सच्चे भाव से ज्ञानियों की आज्ञा के अधीन बनकर सत्क्रिया करते हैं, उन्हें एकांत लाभ होता है । बाह्य लाभों की ओर देखना छोड़ो और आत्मा के लाभ देखना सीखो ।

राम-वाणी

कानून का जानकार होने से पूलिस
यदि कोई गुन्हा करे तो उसे अधिक सजा होती है ।
उसी प्रकार अन्य जीवों की अपेक्षा साधु यदि
कोई पाप करे तो उसे ज्यादा सजा भुगतनी पडती है ।

44

ज्ञान का उपयोग

जिस प्रकार ज्ञान का सदुपयोग हो सकता है, उसी प्रकार दुरुपयोग भी हो सकता है । यदि ज्ञान सम्यग् होता है तो सदुपयोग होता है और मिथ्याज्ञान हो तो दुरुपयोग ही होता है ।

जिस प्रकार अच्छा कर्म करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार बुरा कर्म करने के लिए भी ज्ञान की आवश्यकता रहती है । भले ही वह ज्ञान उल्टा हो ।

जिसे चरण (चारित्र) के प्रति रुचि नहीं होगी, वह पहले तीन अनुयोग का ज्ञान भी किसी अन्य उद्देश्य से ही प्राप्त करता है । अन्य उद्देश्य से प्राप्त ज्ञान आत्मा को उन्मार्ग में ले जाता है । उसमें ज्ञान का कोई दोष नहीं है, दोष तो उस आत्मा का ही है ।

सम्यग्ज्ञान में `अच्छा परिणाम' लाने की शक्ति है, जब कि मिथ्याज्ञान में विपरीत परिणाम लाने की शक्ति है ।

योग्य आत्मा के हाथ में मिथ्याज्ञान भी आएगा तो भी अच्छा ही परिणाम आएगा, परंतु इतने मात्र से मिथ्याज्ञान को अच्छा नहीं कह सकते । उसी प्रकार कोई आत्मा सम्यग्ज्ञान का दुरुपयोग करे तो भी उसमें सम्यग्ज्ञान का दोष नहीं है ।

तीनों अनुयोग महान् है, परंतु चरण की रुचि से रहित आत्मा को तो वे अनुयोग लाभ के बदले नुकसान ही करते है ।

ज्ञानी कहते हैं, `शास्त्रों को पाकर आत्मा संसार से पार उतर सकती है, परंतु अर्थ-काम की लालसा या सिर्फ आजीविका के लिए शास्त्रों का अध्ययन किया जाय तो वे ही शास्त्र आत्मा को संसार में डूबानेवाले बन जाते है, अतः आशय शुद्धि का विशेष ख्याल रखना चाहिये !

45

बडा पाप कौनसा ?

अठारह पापों में सबसे बडा पाप 'पाप को पापरुप में स्वीकार नहीं करना' है । अठारहवां पापस्थानक मिथ्यात्वशल्य है ।

'पाप को पापरुप नहीं मानती है-वह आत्मा, इस विश्व में सबसे बडी पापी है । वह सबसे बडा नास्तिक, ढोंगी व धूर्त है ।

हिंसा करनेवाला, झूठ बोलनेवाला, चोरी करनेवाला तथा व्यभिचार करनेवाला जितना बडा पापी नहीं है, उससे बडा पापी, पाप को पुण्य माननेवाला है ।

जो आत्मा पाप को पाप मानने के लिए तैयार नहीं है, उस आत्मा में सम्यक्त्व कहां से होगा ?

संसार में रहे गृहस्थ से पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय की हिंसा हो जाती है, परंतु हिंसा करते समय उसके हृदय में कंपन न हो तो वह वास्तव में श्रावक-सम्यग्दृष्टि तो ठीक, किंतु सामान्य आस्तिक भी नहीं है ।

पाप को पाप नहीं माननेवाला, पाप का आचरण करनेवाला, चाहे जितना विद्वान् क्यों न हो, वास्तव में वह मुर्खशेखर ही है ।

इस सरकार का न्याय तो गुन्हा प्रुफ Proof होने के आधार पर है । जब कि कर्मसत्ता तो गुन्हे का बदला चक्रवर्ती ब्याज के साथ लेगी । मर्यादित वर्ष के भोग और असंख्य वर्ष की सजा ।

चक्रवर्ती का अधिकतम भोग चौरासी लाख पूर्व वर्ष का और सजा 7वीं नरक में तेत्तीस सागरोपम की !

राम-वाणी

कर्म संयोग के कारण श्रावक या साधु दुःखी हो सकते हैं,
परंतु उस दुःख में वे कभी दीन नहीं बनते हैं ।

46

योगी और भोग

द्वादशांगी में सारभूत श्री आचारांग सूत्र का सार चरण (चारित्र) है और वह चारित्र, मुक्ति के लिए है । मुक्ति की भावना से रहित चरण (चारित्र) भी नुकसान करता है । अच्छी वस्तु का भी दुरुपयोग करो तो वह आत्मा को नुकसान ही करती है ।

द्वादशांगी पाकर डूब जाय यह दोष आत्मा का है, परंतु द्वादशांगी का नहीं ।

क्षीर-नीर की भाँति आत्मा का कर्म के साथ संयोग है । `हँस' दूध और पानी को अलग कर देता है । वह दूध में चांच लगाता है और दूध फटता है, जिससे पानी अलग हो जाता है ।

आपको भी उस `खटाई' का उपयोग करना पडेगा । वह `खटाई' कौन सी है ?

आत्मा और कर्म को अलग करनेवाली वह खटाई `भोगों का त्याग' है ।

हम तो भगवान महावीर के पुलिस हैं । हमारी आवाज से भोग और भोग के पिपासु भागे, इसी में हमारी इज्जत है ।

योगी कभी भोगी की रोटी पर नहीं जीता है । जो योगी, भोग की रोटी पर जीए तो वह योगी तो भोगी से भी भयंकर है ।

शास्त्रकारों ने योगी को `मुधादायी' और `मुधाजीवी' कहा है ।

साधु देशना दे तो भी स्व और पर के कल्याण के लिए ही और आहार भी संयम की पुष्टि के लिए ही करता है ।

योगी का भोगी से धर्म प्रयोजन सिवाय अन्य कोई संबंध नहीं होता है । मुनि को कुक्षि शंबल कहा है अर्थात् संयम निर्वाह के लिए आहार की जरुरत हो और जब जरुरत हो तभी गोचरी हेतु जाना है ।

47

आस्तिक्य

चार चार ज्ञान के स्वामी और देवताओं से पूजित श्री तीर्थंकर परमात्मा, अपनी सिद्धि निश्चित होने पर भी अपने बल-वीर्य को छुपाए बिना पूरा पूरा पराक्रम करते हैं तो फिर सिद्धि के अर्थी अन्य आत्माओं को तो उद्यम अवश्य करना ही चाहिये । इस बात का जो स्वीकार करता हो, उसे `शस्त्रपरिज्ञा' नाम के अध्ययन में प्रतिपादित सामान्य रीति से जीव के अस्तित्व में और विशेष प्रकार से पृथ्वीकाय आदि के अस्तित्व में आस्तिक्य अवश्य धारण करना चाहिये । अन्यथा उसी अध्ययन में प्रतिपादित विरति का स्वीकार कभी नहीं होगा ।

'पृथ्वीकाय आदि जीव है और उनकी हिंसा से बचने के लिए श्री जिनेश्वर परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट सर्वविरति के स्वीकार सिवाय इस भयंकर संसार सागर से पार उतरने का कोई उपाय नहीं है ।' इस प्रकार के आस्तिक्य की आवश्यकता है ।

इस प्रकार के आस्तिक्य बिना जैनत्व या सम्यक्त्व की कल्पना करना, यह आकाश-पुष्प या वंध्या-पुत्र के समान निरर्थक है ।

जैनत्व और सम्यक्त्व ये कोई सामान्य गुण नहीं है, उन गुणों की कल्पना स्वच्छंदी तुल्य या उन्मत्त आत्माओं के साथ करना, यह तो उत्तम गुणों की आशातना करने तुल्य है ।

राम-वाणी

जिस प्रकार सुअर को मिष्टान्न खिलाने का
श्रम निष्फल हैं, उसी प्रकार अयोग्य व्यक्ति को
सद्धर्म प्रदान करने का श्रम भी निष्फल जाता है ।

48

निर्जरा प्रधान जीवन

मुनि के लिए पुण्यबंध की क्रियाओं का विधान नहीं है । मुनि की सभी क्रियाएँ निर्जरा के लिए ही है ।

मुक्ति के अर्थी की इच्छा निर्जरा की ही होती है, फिर भी बंध होता हो तो पुण्यानुबंधी पुण्य का ही बंध चाहता है ।

मुनि और गृहस्थ का स्थान भिन्न भिन्न है । मुक्ति न मिले तब तक साधन की आवश्यकता रहेगी ।

प्रत्येक धर्मक्रिया मुक्ति के ध्येय से ही करनी चाहिये, अन्य ध्येय से करेंगे तो पुण्य में पापानुबंध का अंश लगे बिना नहीं रहेगा ।

चरण की रुचि न हो तो व्यक्ति शास्त्र का स्वैच्छिक उपयोग करता है । शास्त्र का स्वैच्छिक उपयोग करनेवाले को प्रभु शासन में रहने का अधिकार नहीं है ।

ज्ञानियों का एक ही उपदेश हैं-'कल्याण के अर्थी व्यक्ति को शक्ति हो तो दुनिया का त्याग करना चाहिये । यह शक्य न हो तो दुनिया में रहकर भी उसका आंशिक त्याग करे । यह भी शक्य न हो तो दुनिया को पापमय तो अवश्य स्वीकार करे ।

संसार का त्याग न कर सको तो भी कम से कम उसमें ज्यादा लीन न बनो, उसके लिए मर्यादाशील बनो ।

राम-वाणी

यह संसार छोडने जैसा है,
इस जीवन में संयम ही लेने जैसा हैं
और मोक्ष ही पाने जैसा है ।

49

सम्यक्त्व और मोक्ष

प्रभु शासन में संसार को असार तथा दुःखमय, दुःखफलक और दुःख की परंपरा बढानेवाला कहा गया है, ऐसे संसार में वास्तविक सुख नहीं है । एकांतिक और आत्यंतिक सुख तो मोक्ष में ही है ।

जिनेश्वर देव की आज्ञा है-जीव और अजीव को जानो । आश्रव को दूर करो । आश्रव में प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह ये पांच मुख्य है, उनका त्याग करो और संवर का स्वीकार करो । कर्म के बंध से बचने का प्रयास करो और एक मात्र मोक्ष की ओर ही दृष्टि स्थापित करो ।

श्री जिनेश्वर देव की आज्ञा पर दृढ श्रद्धा उसी का नाम सम्यक्त्व है ।

दृढ सम्यक्त्व बिना अहिंसा, संयम और तप भी टिकते नहीं है ।

अहिंसा, संयम और तप अनुपम हैं, परंतु उन तीनों की स्थिति सम्यक्त्व को आभारी है । सम्यक्त्व कमजोर हो तो उन तीनों के नष्ट होते देर नहीं लगती है ।

सम्यक्त्व के अभाव में रही अहिंसा, वास्तविक अहिंसा नहीं है, संयम भी संयम नहीं है और तप भी तप नहीं है ।

सम्यक्त्व आएगा तो मोक्ष का विचार आए बिना नहीं रहेगा क्योंकि उसका साध्य मोक्ष ही है ।

जिसका साध्य मोक्ष हो उसे शरीर, घर, कुटुंब, स्वजन, लक्ष्मी आदि `पर' लगे बिना नहीं रहेंगें ।

सम्यक्त्व तो जिनेश्वर के शासन की नींव है । नींव मजबूत हो तभी अहिंसा, संयम और तप रुप धर्मप्रासाद खडा रह सकता है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा मोक्ष की साधना में उद्यम को ही प्रधान माननेवाली होती है ।

50

दर्शन से ज्ञान का उद्योत

जिस काल में सम्यग्दर्शन न हो उस काल में सम्यग्ज्ञान का उद्योत हो ही नहीं सकता । सम्यग्दर्शन के अभाव में जैन शास्त्र सम्यग्ज्ञान नहीं मानते है । अनंतानुबंधी कषाय की चोकडी तथा सम्यक्त्व महोनीय, मिश्र मोहनीय और मिथ्यात्व मोहनीय, इन सात प्रकृति के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से जो परिणाम होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते है ।

भगवान श्री उमास्वाति वाचकवर ने भी **'तत्वार्थाधिगम'** में पहला सूत्र रचा है ।

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ।'

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष-मार्ग है । उसमें से एक के भी अभाव में मोक्ष नहीं है । इन तीनों में से एक का भी अभाव हो तब तक मोक्षमार्ग की संपूर्ण आराधना नहीं हो सकती है ।

कहीं पर `ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' भी कहा गया है । परंतु इन दोनों वाक्यों में लेश भी विरोध नहीं है क्योंकि सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्य-ग्ज्ञान हो ही नहीं सकता है ।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति समकाल में होती है और बाद में उसमें विशुद्धि आती है ।

स्वस्तिक (अक्षत पूजा) में ज्ञान, दर्शन और चारित्र है, परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि पहले ज्ञान, फिर विशुद्ध सम्यक्त्व और उन दोनों के बाद ही चारित्र ! वहाँ प्रथम दर्शनपूर्वक का ज्ञान, फिर ज्ञानपूर्वक का विशुद्ध दर्शन और उन दोनों के बाद चारित्र ।

सम्यग्ज्ञान का अर्थ महान् श्रुतज्ञान नहीं । यहाँ सम्यग्ज्ञान अर्थात् शुद्ध देव, शुद्ध गुरु और शुद्ध धर्म का अमुक ही स्वरुप हो सकता है और उसी तत्त्वत्रयी से आत्मा, परमात्मा बन सकती है, ऐसा ज्ञान, सम्यग्ज्ञान है । श्रुतज्ञान तो ज्ञान को ज्यादा स्पष्ट करता है । सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का संबंध एक-दूसरे से संकलित होने से सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान नहीं होता है । इसी अपेक्षा से `ज्ञान व चारित्र से मुक्ति है' ऐसा कहा गया है ।

ज्ञान का बीज दर्शन, फल चारित्र और परिणाम मुक्ति है ।

दर्शन अर्थात् जिनेश्वर की आज्ञा के प्रति रुचि । अनंतानुबंधी कषाय और दर्शन मोहनीय के पटल दूर हो तभी जो स्वाभाविक रुचि आत्मा में होती है, वो ही दर्शन !

जैसे बालक को जन्म से ही स्तनपान की रुचि होती है । उसका उसे ज्ञान नहीं है, फिर भी अनादि से वह रुचि है । आवरण टूटने से होनेवाली रुचि, उसी का नाम दर्शन है ।

सात प्रकृति के दलिक उपशांत हो और रुचि जगे, वह उपशम सम्यक्त्व, क्षयोपशम से हो तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और क्षय से हो तो क्षायिक सम्यक्त्व ।

उपशम में प्रदेशोदय नहीं है ।

क्षयोपशम में प्रदेशोदय है, किन्तु विपाकोदय नहीं हैं । अर्थात् उदय में रहे किन्तु विपाक का अनुभव न करावे ।

अपूर्वकरण आने पर ही ग्रंथिभेद होता है । अनादि भव संसार में पहले कभी नहीं आया ऐसा परिणाम वह अपूर्वकरण । यह परिणाम आने पर राग-द्वेष की तीव्र परिणति की गांठ भेदी जाती है, तभी आत्मा में स्वाभाविक रुचि पैदा होती है ।

क्षायिक सम्यक्त्व आने के बाद कभी जाता नहीं है । उपशम सम्यक्त्व अन्तमुहूर्त के बाद अवश्य जाता है और क्षयोपशम सम्यक्त्व तो अनेक बार आता जाता है । वह अधिकतम छासठ सागरोपम से कुछ अधिक काल तक रहता है ।

राम-वाणी

मस्ती से सुख के भोग में दुर्गति को आमंत्रण है ।
मस्ती से दुःख सहन करने से दुर्गति के द्वार बंद हो जाते है ।

52 सम्यग्दर्शन से सकाम निर्जरा

सकाम निर्जरा अर्थात् धर्मानुष्ठान आदि से होनेवाला कर्मक्षय और अकाम निर्जरा अर्थात् इच्छारहित कर्मविपाक भुगतने से होनेवाला कर्मक्षय ।

निगोद में अव्यक्त वेदना का पार नहीं है । व्यक्त वेदना तो नारकी में ज्यादा है । नारकी में पाँचों इन्द्रियाँ है और ज्ञान भी है ।

निगोद में से जीव अकाम निर्जरा के कारण ही बाहर आता है ।

नदी में सभी पत्थर टकराते हैं, परंतु क्या सभी गोल हो जाते है ? नहीं ! उसका कारण भवितव्यता है । जिसके ऊपर ज्यादा घर्षण हो, वही गोल होता है । बस, इसी प्रकार जिस आत्मा के कर्म पर अकाम निर्जरा से ज्यादा घर्षण हुआ हो, वही आत्मा जल्दी बाहर आती है ।

अकाम निर्जरा (मिथ्यादृष्टि) सभी जीवों को होती है । उसका प्रमाण कम-ज्यादा हो सकता है ।

कर्ममल घटे बिना गुणप्राप्ति नहीं हो सकती । सम्यक्त्वपूर्वक के तप से सकाम निर्जरा होती है । मिथ्यादृष्टि के कर्म भवितव्यता से हटते है और सम्यग्दृष्टि उसके लिए प्रयत्न करता है ।

दर्शनरहित ज्ञान आत्मा को बचा नहीं सकता । दर्शनयुक्त ज्ञान तो आत्मा को बार बार प्रेरणा देता है और पापप्रवृत्ति से बचाता है ।

सम्यग्दर्शन प्रकाश है, उस प्रकाश की सहायता से सम्यग्ज्ञान अच्छे-बुरे का विवेक कराता है और सम्यक्चारित्र कचरे को दूर कर अच्छे माल का संग्रह कराता है ।

सम्यग्दर्शन तो स्व-पर का भेद बतानेवाला प्रकाश है ।

दर्शनरहित ज्ञान तो गधे के ऊपर चंदन के भार तुल्य कहा गया है ।

सम्यग्दृष्टि की दृष्टि

न्यायाचार्य महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी गणिवर ने कहा,

'तप गुण ओपे रे रोपे धर्म ने, लोपे नवि जिन आण,
आश्रव लोपे रे नवि कोपे कदा, पंचम तपसी ते जाण ।।'

इस प्रकार कहकर यही बात पुष्ट की है कि जो तपस्वी श्री जिनेश्वरदेव की आज्ञा को नहीं छिपाए, वो ही तपस्वी प्रभावक कोटि में आता है, दूसरा नहीं ।

सम्यग्दर्शन अर्थात् श्री जिनेश्वर देव की आज्ञा के ऊपर अखंड राग ।

आज्ञा पर प्रेम जगे तो आश्रव का राग जाता ही है । ज्ञान ऊपर प्रेम जगे तो आश्रव का लोप होता है ।

ज्ञान, चारित्र तथा तप की प्राप्ति तथा उनके विकास के लिए सम्यग्दर्शन अत्यंत ही जरुरी है । सम्यग्दर्शन के योग से प्राप्त ज्ञान आत्मा को आरंभ समारंभ से अवश्य बचाता है । वह ज्ञान इतना सुंदर होता है कि आत्मा अयोग्य प्रवृत्ति से स्वयं बच जाती है ।

सम्यग्दर्शनरहित ज्ञान से तो आरंभ-समारंभ की वृत्ति उछलती रहती है । इसी कारण सम्यग्दर्शनयुक्त ज्ञान की आवश्यकता रहती है ।

सम्यग्दर्शन आत्मा की ज्ञानशक्ति को विकसित करनेवाला है । इस तरह विकसित ज्ञानवाली सम्यग्दृष्टि आत्मा, मोक्ष और मोक्ष के प्रधान अंगभूत संयम को सार रुप में देखती है ।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की दृष्टि में यही भेद है कि मिथ्यादृष्टि की दृष्टि दुनिया के रंग राग व आरंभ समारंभ में जल्दी स्थिर हो जाती है, जबकि सम्यग्दर्शन की दृष्टि वहां स्थिर नहीं होती है, उसकी दृष्टि में तो निर्वाण और संयम सिवाय अन्य कोई वस्तु साररुप नहीं लगती है, सम्यक्त्व की यही परीक्षा है ।

54

प्रभु शासन में मर्यादा

श्री तीर्थंकर परमात्मा के शासन में केवली भी श्री तीर्थंकर परमात्मा के नाम से ही देशना देते है ।

'भगवान श्री जिनेश्वरदेवों ने कहा है'-इस प्रकार कहते है ।

वे केवली कैसे बने ?

श्री तीर्थंकर देव के तीर्थ के आलंबन से ही तो । श्री तीर्थंकर देव की देशना सुनी, स्वीकार किया, आज्ञा का पालन किया तो केवलज्ञान हुआ, अतः वे सब बातें तारक परमात्मा के नाम से ही करते है ।

श्री प्रत्येक बुद्ध शिष्य नहीं करते हैं, क्योंकि उन महर्षियों को गुरु बनने का अधिकार नहीं है । बिना गुरु के गुरु बनने का अधिकार तो श्री तीर्थंकर परमात्मा को ही होता है ।

जगद्गुरु तो वे एक ही होते है । स्वयं सबुद्ध वे ही होते है ।

प्रत्येक बुद्ध के पास कोई दीक्षा लेने के लिए आता है, तब वे स्वयं बोध देते है, परंतु भेजते है प्रभु अथवा प्रभु शासन के मुनि के पास ।

श्री तीर्थंकर परमात्मा के तीर्थ की निश्रा में रहे हुए केवली भी प्रभु के नाम से देशना देते है । इस कारण प्रभु मार्ग में मर्यादा टूटती नहीं है । केवली भी मर्यादा का स्वीकार करते है ।

दूसरे प्रहर में छद्मस्थ गणधर देशना देते हैं, परंतु उनकी देशना में केवली भी बैठते हैं । अरिहंत प्रभु शासन की धुरा गणधर भगवंतों को सौंपते है ।

राम-वाणी

ज्ञान का फल चारित्र है
द्रव्य चारित्र से भाव चारित्र ऊँचा हैं,
परंतु भाव चारित्र का कारण तो द्रव्य चारित्र है ।

संयम और मोक्ष

प्रभु मार्ग में अविचल श्रद्धा धारण करनेवाले को लोक में सारभूत `संयम' और `मोक्ष' ये दो ही वस्तुएँ लगती हैं । इसी प्रकार संयम की साधना के लिए `निःसंगता' और मोक्ष की साधना के लिए `कर्मधूनन' जरुरी लगता है, क्योंकि उसके बिना संयम का सेवन और मोक्ष की प्राप्ति शक्य नहीं है ।

संयम के अर्थी को पौद्‌गलिक संग मात्र बंधनरुप लगता है और मोक्ष के अर्थी को शुभ-अशुभ कर्ममात्र भयंकर लगता है, क्योंकि इस शासन में निःसंगता द्वारा ही संयम की साधना हो सकती है और कर्म धूनन द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ।

पौद्‌गलिक संग मात्र को बंधन रुप मानकर निःसंगता को आत्मसात् करे और उससे संयम की साधना करे । संयम की साधना द्वारा शुभ-अशुभ कर्ममात्र का धूनन करे और उसके फल स्वरुप एकांतिक और आत्यंतिक सुख के स्थान रुप मोक्ष प्राप्त करे, यही आचारांग के छठ्ठे धूताध्ययन का उद्देश्य है ।

जो निःसंग बनता है, उसी को जिनेश्वरदेव के शासन में संयम की प्राप्ति होती है और जो कर्ममलरहित बनता है, उसीको मुक्ति की प्राप्ति होती है ।

दुनिया के किसी भी पदार्थ पर ममता, उसी का नाम संग है ।

जिस आत्मा को मुक्ति के बदले संसार और संयम के बदले पौद्‌गलिक वासनाओं की तृप्ति ही साररुप लगती हो, उस आत्मा में सम्यक्त्व कहां से आ सकता है ?

सम्यक्त्व के अभाव में अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों के प्रसंग में स्थिरता संभव नहीं है ।

अहिंसा में धर्म माननेवाले को संयम तो अवश्य पसंद पडे ही । जिसे जिनेश्वर उपदिष्ट संयम धर्म पसंद न हो, वह `अहिंसा में परमधर्म' की बात कैसे कर सकता है ?

सम्यग्दर्शन चेतन और जड का विवेक कराता है । चेतन और जड के भिन्न भिन्न धर्म का भान कराता है ।

सम्यग्दृष्टि संपत्ति से डरता है । संपत्ति से भागना यह पहला धूनन है । संपत्ति का सदुपयोग, यह भी आंशिक धूनन है ।

जब तक बाह्य संपत्ति से अलग नहीं होंगे, तब तक आत्मा की संपत्ति प्रकट होनेवाली नहीं है । बाह्य संपत्ति पास में रखकर आत्मसंपत्ति को प्रकट करने की बात तो सिर्फ मुर्खता ही है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा की प्रवृत्ति इस ढंग की होती है कि उसके हृदय में उत्तम भावनाएँ सदा जागृत रहती है । जीवन में उत्तम भावनाएँ जागृत हो तो मृत्यु समय में उत्तम भावना आ सकती है ।

संपत्ति से भागने की भावना जागृत हो तभी यह हो सकता है । इसी का नाम **'भावधूनन'** है ।

प्रभु का शासन मानता है कि सम्यग्दृष्टि को मोक्ष और संयम सिवाय कुछ भी सारभूत नहीं लगता है । इन दो को छोडकर अन्य कोई सारभूत लगे तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं है । यह सम्यग्दृष्टि की मर्यादा है । देशविरति श्रावक और साधु की मर्यादा तो उससे भी ऊंची है ।

सम्यग्दृष्टि आत्मा की एक ही भावना होती है कि मुझे मुक्ति कब मिलेगी ? इस भावना के कारण संयम की इच्छा उसके रोम रोम में होती है ।

जिसको संयम पसंद हो उसे **'असंग'** बनना चाहिये । असंग बने तो संयम प्राप्त हो सकता है और उस संयम का पालन हो तो मुक्ति प्राप्त हो सकती है ।

राम-वाणी

अरिहंत की आज्ञा के प्रति जीवन में समर्पण
आ जाय तो उसके मन में
भावधर्म आए बिना नहीं रहता है ।

56 देव भव और मनुष्य भव

ज्ञान और चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन है । सम्यग्दर्शन यदि चला गया तो ज्ञान और चारित्र जाने ही वाले है ।

शासन की जड, दर्शन है, परंतु ज्ञान और चारित्र नहीं है । दर्शन के कारण शासन है, परंतु ज्ञान-चारित्र के कारण शासन नहीं है ।

दर्शन अर्थात् श्री जिनेश्वर देव, उनकी आज्ञानुसार चलनेवाले निर्ग्रंथ गुरु तथा श्री सर्वज्ञ परमात्मा से उपदिष्ट गणधर भगवंतों से विरचित और पूर्वाचार्यों से सुरक्षित आगम ही हमारे तारक है, इसके सिवाय उद्धार नहीं है ऐसी मान्यता अर्थात् दर्शन ।

श्री जिनेश्वरदेवों ने जो कहा है, उसमें लेश भी परिवर्तन को स्थान नहीं है ।

जैन शासन की जड सम्यक्त्व है । कर्मधूनन करना हो तो कर्म की जड रुप बाह्य संयोगों का त्याग करना चाहिये । जब तक बाह्य संयोगों का त्याग नहीं होगा, तब तक आंतर संयोगों का त्याग कहां से होगा ?

देवता प्रभु की किस प्रकार भक्ति करते है । क्षीर सागर से जल लाते हैं और खूब सुंदर ढंग से भक्ति करते है । उसमें से मनुष्य कितना कर सकता है ? फिर भी ज्ञानी फरमाते हैं कि मनुष्य जो भक्ति कर सकता है, वे देवता भी नहीं कर सकते हैं क्योंकि भक्ति के समय भी देवताओं को बाह्य-संयोगों का त्याग नहीं है ।

मनुष्य जितने समय तक भक्ति करता है, उतने समय तक बाह्य संयोगों से दूर रहता है । जबकि देवता तो क्षणभर के लिए बाह्य संयोगों का त्याग नहीं कर पाते है । वे साक्षात् तीर्थंकरों का उपदेश सुनते हैं, परंतु मूल स्वरुप में तो वहीं देवलोक में रहते है । तीर्थंकर व अनेक महापुरुषों के त्याग आदि प्रसंगों को प्रत्यक्ष देखने पर भी उन्हें विरति के परिणाम नहीं आते है । जब कि मनुष्य उपदेश आदि द्वारा बाह्य संयोगों का त्याग भी कर सकता है और विरति के परिणाम भी पा सकता है ।

प्रवचन-1

57

आत्मा ही संसार, आत्मा ही मोक्ष !!

अयमात्मैव संसारः कषायेन्द्रियनिर्जितः ।
तमेव तद्विजेतारं, मोक्षमाहुर्मनीषिणः ।।

अर्थ : कषाय और इन्द्रियों से पराजित आत्मा ही संसार है । वही आत्मा जब कषाय और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करती है, तब उस आत्मा को ज्ञानी 'मोक्ष' कहते है ।

अनंत उपकारी श्री अरिहंत परमात्मा के कथन के रुप में कलिकाल सर्वज्ञ **हेमचन्द्रसूरीश्वरजी म.** फरमाते हैं कि आत्मा ही संसार है और आत्मा ही मोक्ष है । कषाय और इन्द्रियों से पराजित होना ही संसार है और कषाय व इन्द्रियों पर विजय पाना ही मोक्ष है ।

कर्मरहित आत्माएँ मोक्ष में बिराजमान है और कर्मसहित आत्माएँ संसार में भटकती है ।

आत्मा के साथ कर्म का योग, संसार है ।
आत्मा के साथ कर्म का वियोग मोक्ष है ।

कषाय व इन्द्रियों से पराजित होने पर कर्म का बंध होता है तथा कषाय व इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने से आत्मा कर्म से रहित होती है ।

आत्मा का शुद्ध स्वरुप मोक्ष है ।
आत्मा का विकृत स्वरुप संसार है ।

जैन कुल में जन्मी हुई और जिनेश्वर देव को माननेवाली आत्मा को यह बोध तो बचपन से ही होता है । यह बात समझ में आ जाय तो आत्मा के विकृत-स्वरुप को दूर करने और सच्चे स्वरुप को प्राप्त करने के उपाय में रस पैदा हुए बिना न रहे । परंतु आज की स्थिति बडी विचित्र है, अधिकांश लोगों को यह बात समझ में आई नहीं है । ये बातें अनेक बार सुनने पर भी अभी तक हृदय में लीन बनने का लक्ष्य नहीं बना है ।

हम सब पंच परमेष्ठी को मानते हैं । उन पांच परमेष्ठी को बार बार नमस्कार करते हैं, उन पंच परमेष्ठियों के स्वरुप में मोक्षमार्ग को छोडकर कुछ भी बात नहीं आती है ।

अरिहंत परमात्मा मोक्षमार्ग के स्थापक है, मोक्षमार्ग की साधना कर कर्मरहित बनकर सिद्धि पद पाए हुए सिद्ध भगवंत है । आचार्य भगवंत मोक्षमार्ग के पालक, प्रचारक और संरक्षक है । उपाध्याय भगवंत मोक्षमार्ग का सेवन करनेवाले और मोक्षमार्ग निरुपक शास्त्रों का ज्ञान-दान करनेवाले है । साधु भगवंत मोक्षमार्ग का सेवन करनेवाले और दूसरों को मोक्षमार्ग में सहायता करनेवाले है ।

इन पांचों के स्वरुप दर्शन में, मोक्षमार्ग छोडकर अन्य कोई बात नहीं होती है ।

पंच परमेष्ठियों को किए गए नमस्कार से सर्व पापों का नाश होता है । जो क्रिया सर्व पाप विनाशक हो, वो ही क्रिया सर्व मंगलों में प्रथम मंगल है । ये बातें जो मानता-समझता है, उसे आत्मा के शुद्ध-अशुद्ध स्वरुप का ज्ञानभान तो होना ही चाहिये । इसका अर्थ है कि जो समझपूर्वक नवकार गिनता है, उसे मोक्ष पसंद है, संसार पसंद नहीं है । वह संसार से छूटकर मोक्ष पाने के लिए इच्छुक है ।

जिसे मोक्ष पसंद नहीं हो और संसार ही पसंद हो तो ऐसे व्यक्ति नवकार मंत्र गिनता हो तो भी क्या फायदा ?

नवकार गिननेवाला का क्या ध्येय हैं, यह उसके आचरण या बातचीत के ऊपर से अनुमान कर सकते है ।

नवकार गिनता हो, लेकिन अभी तक नवकार के ध्येय को जिसने प्राप्त नहीं किया हो-उसे अंतरंग दुःख हुए बिना नहीं रहता है । **अहो ! नवकार गिनकर मैं रोज पंच परमेष्ठी को नमस्कार करता हूँ, पांचों परमेष्ठी मोक्ष पद से जुडे हुए है, तो अभी तक मुझे मोक्ष पसंद नहीं पडता है और संसार से छूटने का मन नहीं होता है, यह मेरी कितनी कमनसीबी है !**

मोक्ष मेरी आत्मा का सच्चा स्वरुप है और संसार मेरा विपरीत स्वरुप है । `मोक्ष' अर्थात् संसार से विपरीत स्थिति ।

`मैं जिनको बार बार नमस्कार करता हूँ, उनके स्थान पर मुझे जल्दी से जल्दी पहुँचना है ।' इतना तो लगता है न ?

सभा में से : *यह बात बुद्धि में उतरती है ।*

पूज्यपादश्री : बुद्धि में उतरे और हृदय में नहीं ? केवल बुद्धि-वाला योग्य नहीं है, बुद्धि हृदयपूर्वक चाहिये । बुद्धि से जो समझ में आए, उसका हृदय को स्पर्श होना चाहिये । कई लोग बुद्धि से समझते हैं और दूसरों को समझा भी देते हैं, परंतु उनका हृदय तो कोरा ही होता है । ऐसे बोध का कोई अर्थ नहीं है । हमें अपने अशुद्ध स्वरुप का और अरिहंतादि के शुद्ध स्वरुप का ख्याल आना चाहिये । `शुद्ध स्वरुप को पाने के लिए नवकार मंत्र गिनता हूँ, ऐसा होना चाहिये ।' संसार मेरा अशुद्ध स्वरुप है और मोक्ष मेरा शुद्ध स्वरुप है, इस बोध के बिना मोक्ष की ओर प्रयत्नपूर्वक गति संभव नहीं है ।

प्रश्न : *संसार है तो मोक्ष है न ?*

बात सत्य है, संसार नहीं होता तो मोक्ष भी नहीं होता । परंतु हृदय में संसार हो तो कभी भी मोक्ष नहीं हो सकता है । संसार छोडे तो ही मोक्ष होता है । जिसे संसार नहीं चाहिये, वही मोक्षमार्ग की सच्ची आराधना कर सकता है ।

मोक्षमार्ग की क्रियाएँ करने पर भी जिसके हृदय में संसार होता है, वह चाहे जितनी क्रियाएँ करे, फिर भी मोक्ष नहीं होता है ।

दुःखी का मोक्ष होता है और सुखी का नहीं, यह बात शासन नहीं कहता है । यह शासन तो कहता है-सुखी ही मोक्ष में जाते हैं । परंतु वह हृदय के सुख की बात है, जिसे दुनिया का सुख तुच्छ और त्याज्य लगे और आत्मा का सुख पसंद पडे, वही मोक्ष में जाता है । हृदय के सुख के लिए धन आदि जरुरी नहीं है । धन हो लेकिन ममत्व जितना कम होगा, उतने सुख का अनुभव हो सकेगा । **आत्मिक सुख में सबसे बडा विघ्न ममत्वभाव है । संसार में रहे लेकिन हृदय में संसार न रहे तो महान् सुख का अनुभव हो सकता है ।** संसार हृदय में हो और मोक्ष मिल जाय, यह कदापि संभव नहीं है ।

कौन से कर्मक्षय की इच्छा है ?

आपको संसार पसंद नहीं है, संसार से छूटने की इच्छा है, इसलिए सिद्धगिरि की यात्रा के लिए आए हो न ! संसार से छूटने और मोक्ष पाने के लिए कर्म से छूटना पडता है । यहाँ कर्मक्षय करने के लिए आए हो न !

ज्ञानियों का वचन है-कर्म क्षय करने के लिए श्री सिद्धगिरि उत्तम स्थान है । आप लोग यहाँ आए हो तो आपको कौन-से कर्मों का क्षय करना है ? दुःख की सामग्री देनेवाले, सुख की सामग्री देनेवाले या आत्मा को पाप में जोडनेवाले ?

सभा में से : *क्रमशः इच्छा होती है न ?*

पूज्यपादश्री - इसका मतलब है, अभी तो दुःख देनेवाले कर्म हटाने हैं और सुख देनेवाले कर्म अच्छे लगते है । इसका मतलब है, संसार से छूटने और मोक्ष पाने की बात नहीं है ।

संसार का सुख पाने के लिए जो केवल दुःख देनेवाले कर्मो का ही क्षय करना चाहता है, उसे कभी भी दुःखरहित सुख मिलता नहीं है ।

दुःख देनेवाले कर्मों का क्षय तो कौन नहीं चाहता है ? संसार में दुःख किसको पसंद है ? संसार में सुख किसको पसंद नहीं है ? सभी को सुख पसंद है और दुःख नापसंद है, तो फिर सभी दुःखी क्यों है ?

जो सुख देनेवाले कर्म चाहता है, उसे दुःख देनेवाले कर्म का बंध हुए बिना नहीं रहता है । जिसे एक मात्र सुख ही पसंद है, उसे कर्मरहित बनने का प्रयत्न करना चाहिये । सर्वज्ञ भगवंत के शासन का यह अर्क है ।

शास्त्रकारों ने कर्म के घाती-अघाती आदि भेद बतलाए हैं, परंतु बाल जीव शीघ्र समझ सके इसके लिए कर्म के तीन प्रकार बताए हैं- दुःख देनेवाले कर्म, सुख देनेवाले कर्म और पाप करानेवाले कर्म ।

यदि कोई पूछे, **'आप यहाँ क्यों आए हो तो क्या जवाब दोगे ? पुण्य बंध के लिए न !'**

सिद्धगिरि की इतनी अधिक महत्ता क्यों है, इसका पता है ? क्या आदिनाथ की प्रतिमा अन्यत्र नहीं है ? अनेक स्थानों में आदिनाथ की

प्रतिमा है, फिर भी यहाँ उल्लासपूर्वक दौडकर क्यों आते है ? इस स्थान की महत्ता समझे बिना इस स्थान पर आने का लाभ कैसे मिलेगा ?

आदिनाथ की प्रतिमा तो अनेक स्थलों में है, परंतु यहाँ की भूमि की जो पवित्रता है, वह अन्यत्र नहीं है । यहाँ की भूमि भी पवित्र है, क्योंकि यहाँ एक एक कंकड का स्पर्श कर अनंत सिद्ध हुए है ।

आपको कहना चाहिये कि यदि हमारे में शक्ति होती तो इस भूमि पर पैर नहीं रखते परंतु मस्तक रखते । पैर को ऊँचा और मस्तक को नीचे कर गिरिराज पर चढने की शक्ति नहीं है । इसलिए इस भूमि पर पैर रखते है । इस भूमि पर पैर भी, पैर रखने के लिए नहीं रखते हैं । बल्कि इस पवित्र भूमि की स्पर्शना से पावन बनने का भाव है, इसलिए रखते है । इतना समझकर इस तीर्थभूमि पर जो पैर रखेगा, वह अत्यंत ही सावधानी और यतनापूर्वक रखेगा ।

माता-पिता, गुरु आदि के अथवा उनके आसन को भी पैर नहीं लगाया जाता है, परंतु पिता की पीठ को दबाने के लिए तो पीठ पर पैर रखते है न ? परंतु वह पैर तिरस्कार भाव से नहीं, किन्तु भक्तिभाव से लगाया जाता है ।

बस, इसी प्रकार जिस भूमि पर अनंत आत्माएँ मोक्ष में गई, उस भूमि की स्पर्शना करने के लिए पैर रखा जाता है । यह भाव अंतर में हो तो एक एक कदम के साथ अनंत कर्मो की निर्जरा हो सकती है ।

हृदय में पाप :

स्तवन में एक पंक्ति आती है-**'कर्मजनित सुख ते दुःख रुप, सुख ते आतम झाँख ।'**

आप लोग तीन प्रकार में से कौन से कर्म खपाने के लिए यहाँ आए हो ! दुःख देनेवाले, सुख देनेवाले या पाप करानेवाले ?

सभा में से : *यहाँ कर्म खपते हैं, यह मानकर आए है ।*

पूज्यपादश्री - कर्म खपाने के लिए आए हो तो अच्छी बात है । इसका मतलब है, आप लोगों को कर्म का योग पसंद नहीं है । सामान्य से

यह बोध है तो अब विशेष बोध पाने के लिए मेहनत करो । पहले यह तय करो कि आपको दुःख देनेवाले कर्म पर गुस्सा है, सुख देनेवाले कर्म पर गुस्सा है, या पाप करानेवाले कर्म पर गुस्सा है ?

जिसके हृदय में संसार के प्रति द्वेष और मोक्ष के प्रति रुचि हो, उसके हृदय में सांसारिक सुख की लालसा कैसे हो सकती है ? ऐसा व्यक्ति दो घंटे के लिए भी पापसहित कैसे रह सकता है ?

क्रिया पुण्य की करे और हृदय में पाप रखे, यह कैसे चल सकता है ? हृदय में पाप रखकर धर्मक्रियाएँ करे तो क्या पाप से बच सकते हैं ? इस बात को गंभीरता से सोचे । पाप की क्रिया करनी पडे तो भी हृदय में से धर्म/मोक्ष की इच्छा नहीं जानी चाहिये । इसके बदले मोक्षमार्ग की क्रियाएँ करते हुए भी हृदय में संसार ही हो तो निस्तार कैसे होगा ?

हम जीव है, हमारी आँख के सामने जगत् है । हम जगत् में रहे हुए हैं, परंतु हमें बनना क्या है ? हमें परमात्मा ही बनना है न ! परमात्मा बनने के लिए बहिरात्मा मिटकर अंतरात्मा बनना पडता है । जगत् में रहकर ही परमात्मा बनने का है, परंतु जो जगत् में मस्ती से रहता हो, वह परमात्मा नहीं बन सकता है । जगत् में रहकर भी जो जगत् से अलग रहता हो और परमात्मभाव पाने के लिए प्रयत्नशील हो, वही परमात्मा बन सकता है ।

जो जगत् में मस्ती से रहता हो, वह **'बहिरात्मा'** । जगत् में रहते हुए भी जो परमात्मभाव के ध्येय से रहता हो वह **'अंतरात्मा'** और जगत् के संसर्ग से मुक्त हो वह **'परमात्मा'** !

पाप करानेवाले कर्मो से मुक्त होकर उस मार्ग को स्वतंत्र रुप से प्ररुपित करे, वे भी परमात्मा और कर्मयोग से सर्वथा मुक्त हो वे भी परमात्मा ।

अपनी आत्मा का संसार के साथ अनादिकाल से संबंध है और वह संबंध कर्म के संयोग के कारण है । परंतु अब हम इतने सावधान हो गए हैं कि अपने हृदय में से संसार का राग हट गया है ।

जब तक कर्म हैं तब तक संसार के साथ संबंध है । परंतु वह संबंध

पसंद नहीं है न ! हृदय में संसार का राग न हो तो बोलने की भाषा ही बदल जाती है ।

जैसे किसी संबंधी के साथ मेल न हो और कोई पूछ ले तो क्या कहते हो ? `यह मेरे चाचा का पुत्र है, अथवा सगा भाई...परंतु उसके साथ हमारा मेल नहीं ।' जिसके साथ अंतर से प्रीति होती है, उसके विषय में बात करने में कितना आनंद-उत्साह होता है । `अरे ! वह तो मेरा सगा भाई है, मेरे सगे चाचा का पुत्र है ।'

कर्म के कारण संबंध हुए हैं, फिर भी जिसके साथ मेल न हो और जिसके साथ मेल हो, उन दोनों के प्रति भाषा में फर्क पड जाता है ।

अंतरात्मा हमेंशा सोचती है, यह संसार कर्म के कारण सर्जित है, कर्म के कारण संसार से संबंध है, परंतु संसार के साथ हृदय से मेल नहीं है । क्या करे ? जन्मे हैं, अतः जीए बिना छुटकारा नहीं है और घर बनाया है, अतः निभाए बिना छुटकारा नहीं है । बस, इसी प्रकार कर्म के कारण यह संसार निभा रहे हैं, परंतु यह संसार पसंद नहीं है ।

संसार चला रहे हैं, किन्तु साध रहे है मोक्ष ! यदि ऐसा हो तो क्रमशः परमात्मा बन सकते हैं ।

आप लोग यहाँ कर्म खपाने के लिए ही आए हो न ! ऐसा मानकर ही बात करे न ! कर्मक्षय करानेवाले गिरिराज के पास क्या कोई जैन कर्म बांधने के लिए आएगा ?

यहाँ कौन-से कर्म खपाने हैं ? आपको समझाने के लिए कर्म के तीन विभाग कहे । कर्म है, कर्म का योग हैं, उसका प्रभाव है, उससे मुक्त बन सकते है । यह सब किसने कहा ?

भगवान ने कहा ।

कौन से भगवान ने कहा ?

इस गिरिराज पर बिराजमान भगवान ने भी ये बातें कही । गिरि-राज पर बिराजमान भगवान को पहिचानते हो न !

प्रतिवर्ष दर्शन-वंदन-पूजन के लिए आते हो, फिर भी इन भगवान को नहीं पहिचानते हो !

इन भगवान को लोग `दादा' भी कहते है । क्या वे अपने पिता के पिता हैं, इसलिए दादा हैं ? नहीं !

इस अवसर्पिणी काल में इस भरत क्षेत्र में जो चोबीस तीर्थंकर हुए हैं, उनमें ये प्रथम तीर्थंकर हैं । असंख्य वर्षो से लुप्त हुए धर्म की आदि करनेवाले ये भगवान है ।

यदि कोई आप को पूछे-`ये भगवान किस प्रकार हुए ? पहले कैसे थे ? और बाद में कैसे हुए ? यदि ये बातें आप नहीं जानोगे तो प्रभु की केसर-चंदन-पुष्प आदि से पूजा करोगे तो जो भाव आने चाहिये, वे कहाँ से आएंगे ?

भगवान की सही पहिचान होगी तो पूजा में भाव आए बिना नहीं रहेगा । उसके बाद दो रुपए का नहीं, 500 रु. का हार चढाओगे तो भी कम लगेगा ।

एक समय था उन तारकों के चरणों में हारों के ढेर लगते थे, ऐसे वे सुखी थे, परन्तु उन्होंने संसार के सभी सुखों को लात मार दी थी । केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद उन्होंने मोक्षमार्ग की स्थापना की । उन तारकों के उपकार की कोई सीमा नहीं है । फिर दो रुपए का हार लेते समय लगेगा कि मैं पाँच रुपए का हार नहीं ले रहा हूँ, यह मेरी कमनसीबी है । पाँच का लेंगे तो 10 रु. का नहीं लेता हूँ, यह मेरी कमनसीबी है, क्योंकि मेरी ममता उतरी नहीं है ।

आपको क्या लगता है ? दो-पाँच रुपए का हार चढाया हो तो गर्व से बोलते हो, मानो बहुत कुछ कर दिया । इसका कारण है कि भगवान की अभी तक पहिचान नहीं हुई है ।

सच्ची भक्ति करनी हो अथवा भक्ति का सच्चा लाभ लेना हो तो भगवान को पहिचानो ।

यहाँ से जाने की तैयारी में हो तो यह निर्णय करके जाओ कि चार-छ मास बाद जब वापस आएंगे तब भगवान को बराबर पहिचान लेंगे न !

यहाँ से घर जाने के बाद भगवान के सभी भव पढ लेना, फिर पता लग जाएगा-भगवान कैसे बने ?

पाप करानेवाले कर्म उदय में है न ! संसार में रहना पाप है । संसार में रहने का पाप कौन कराता है ? पाप करानेवाले कर्म का उदय !

जिस कर्म का उदय संसारवास रुप पाप से मुक्त होने न दे । संसार छोडकर एक मात्र मोक्षमार्ग की आराधन करनी हो तो भी जिस कर्म का उदय अपनी भावना को सफल होने न दे, वह कर्म अखरता है !

पाप छोडने में बाधक और पाप करने में प्रेरक पापकर्म अखरता है ? इसीलिए आप लोग यहाँ आए हो न ! कौन-कौन से कर्म खपाने के लिए यहां आए हो । यह यदि स्पष्ट ख्याल नहीं आता हो तो भी इतना ख्याल रखे-**'हम मोक्षमार्ग में बाधक कर्मों को खपाने के लिए आए है ।'**

इस बात को समझाने के लिए कर्मों के तीन विभाग बतलाए हैं, उन्हें बराबर याद कर लो ।

`घर में रहना पाप है, इस बात में सम्मत हो न !

यदि कोई पूछे-`घर में रहना पाप है तो घर में क्यों रहे हो ?'

इसका जवाब दे-`घर में रहने का बिल्कुल मन नहीं है, परंतु क्या करे, पाप करानेवाले कर्म उदय में है, अतः घर छोडने का हमारा प्रयत्न सफल नहीं हो रहा है ।'

सभा : *पाप करानेवाले कर्म के उदय से ही सभी संसार में रहे हैं ?*

पूज्यपादश्री - पाप प्रेरक कर्म के उदय बिना कोई भी जीव संसार में रह नहीं सकता है, परंतु सभी के कर्म अत्यंत बलवान् ही हो, ऐसा नहीं है । कुछ प्रयत्न किया जाय तो कइयों के कर्म में क्षयोपशम हो सकता है । यदि हम अपना ख्याल रखे तो सबल कर्म भी कमजोर हो सकते है ।

संसार में अनीति आदि अनेक पाप करते हो, परंतु मन को मजबूत करे तो उन पापों के बिना भी जीवन जी सकते है ।

`संसार में तो सब चलता है'-ऐसा मानकर अनीति आदि पाप करते हो या अनिच्छा से करते हो ?

`अनीति का हृदय में डंख भी न हो, ऐसा तो आप लोगों का हृदय नहीं है न !'

जिसके हृदय में अनीति का पाप डंखता हो वह व्यक्ति पाप-प्रेरक कर्म से मुक्त बनने के लिए प्रयत्न किए बिना नहीं रहता है ।

हम आपको दुःखी बनाना नहीं चाहते है । मोक्ष के ध्येय से धर्मकृत्य करते समय सुख देनेवाले कर्म का बंध होता हो तो भले हो । परंतु आप लोग दुन्यवी सुख की इच्छा का अवश्य त्याग करे । आज कई जैन भी दुःखी है, यह जानकर धर्मशील आत्मा को अवश्य दुःख होता है । कई जैन हमारे पास अनाज मांगने आ जाते हैं, यह स्थिति इच्छनीय नहीं है ।

हाँ ! अवसर आने पर हम योग्य उपदेश जरुर देते हैं । परंतु नाशवंत सुख में सर्वस्व माननेवाले, दूसरों की चिंता नहींवत् करनेवाले और सौदेबाजी की तरह धर्म करनेवालों से कितनी आशा रख सकते है ? **आज की स्थिति बहुत विचित्र है-एक ओर उदारता घटी है तो दूसरी ओर मांगने की वृत्ति बढी है ।**

सुखी व्यक्ति को देने में उत्साह आना चाहिये और दुःखी व्यक्ति को माँगने में मौत का अनुभव होना चाहिये ।

जैन संघ सुखी हो, हम यही देखना चाहते है । जिसका धर्म ऊंचा हो, वह दुःखी कैसे हो ? परंतु धर्म, धर्म के रुप में हृदय में बसा हो तो न !

आप लोग तय करे कि हम जो धर्म करेंगें वह सुख देनेवाले कर्म बंध के लिए नहीं, बल्कि पाप में प्रेरक कर्मों से मुक्ति पाने के लिए । मुझे दुन्यवी सुख नहीं चाहिये, बल्कि आत्मिक सुख चाहिये ।

आत्मिक सुख में सहायक पुण्य कर्म पसंद है । तो भी मोक्ष के ध्येय को भूलना नहीं चाहिये । ऐसी इच्छा से सुख देनेवाले कर्म का बंध होता हो तो भले हो । ऐसे कर्म के उदय से राग नहीं बढेगा, बल्कि विराग बढेगा ।

मोक्ष के अर्थी जैन को पुण्य के उदय से ज्यादा धन मिलेगा तो वह अनेक बार यात्रा करेगा, जिन मंदिर-उपाश्रय आदि धर्मस्थानों का निर्माण करेगा । देव की भक्ति, गुरु की भक्ति, साधर्मिक की भक्ति और अनुकंपा दान आदि कार्य ज्यादा करेगा । श्री जिनशासन की प्रभावना में वह अपनी लक्ष्मी का छूट से उपयोग करेगा ।

जिसे पाप करानेवाले कर्म खटकते होंगे, वह संसार में रहकर क्या करेगा ? उसकी नजर मोक्ष की ओर होने से संसारवास को भी मोक्ष साधक बनाने की कोशिश करेगा ।

जिस कर्म का उदय आत्मा को पाप कराता है, वह पापकर्म यदि नहीं अखरता हो तो वह वास्तव में जैन ही नहीं है । ऐसा व्यक्ति जैन शासन में पैदा हुआ हो तो भाव से तो जैन शासन से बाहर ही है ।

कइयों को तो पाप करानेवाले कर्म अधिक पसंद होते है ।

सभा : *यह कैसे ?*

पूज्यपादश्री - आपके पास सुख-समाग्री हो अथवा आप सुखसामग्री पाने के लिए प्रयत्नशील हो, उस समय कोई बीच में बाधक बने तो आपको कैसा लगता है ? अपने सुख में बाधक बननेवाले के प्रति द्वेषभाव पेदा होता है, उसे उडा देने की भी इच्छा हो जाती है, यह सब क्या है ?

शरीर बीमार हो जाता है, तब क्या विचार आता है ? `अहो ! अब मुझे धर्म-कार्य में अंतराय आएगा, यह विचार आता है, या अब मैं कुछ खा-पी नहीं सकूंगा, अब दुकान पर नहीं जा सकूंगा ।' यह विचार आता है ।

जिसे पाप में प्रेरक कर्म खपाने की इच्छा नहीं और सुख देनेवाले कर्म के लिए ही जो धर्म करता है, उसे दुःख देनेवाले और पाप करानेवाले कर्म का गाढ बंध होता है और सुख देनेवाले कर्म का बंध कम होता है । उस पुण्य के उदय से सुख कम और दुःख ज्यादा मिलता है और पाप का बंध अधिक होता है । ऐसा सुख भी निर्विघ्न भोग नहीं सकते है और दूसरे के सुख की ईर्ष्या हुए बिना नहीं रहती है ।

आज अनेक श्रीमंत भी सुख सामग्री का भोग नहीं कर पाते है । घर में खाने की सामग्री बहुत होती है, परंतु उनका पाचन तंत्र काम नहीं करता है, उसे सलाम करनेवाले पच्चीस होते है, तो गाली देने-वाले पांच सौ !

किसी को प्रश्न होगा-सुख के काल में दुःख ज्यादा क्यों ? तो कहना पडेगा कि पुण्य ही ऐसा बांधा है । धर्म करते समय ऐसे कर्म बांधे है, जिससे सुख थोडा और दुःख ज्यादा मिलता है और उसके उदयकाल में पाप की प्रवृत्ति होती है ।

कर्म का प्रभाव :

अनंत शक्तिशाली आत्मा शरीर में कैद है, यह कर्म का ही प्रभाव

है । शरीर का स्वभाव तो इतना विचित्र है कि समझदार को इस शरीर में रहने का मन नहीं होगा । इस शरीर को चाहे जितना संभालो, फिर भी दुःख देनेवाले कर्म के उदय में खाया हुआ भी पचता नहीं है ।

भूख सहन नहीं होती है और खाए तो दश्तें लगती है, आत्मा को ऐसी उपाधि में किसने डाला ? कर्म ने !

क्या यह कर्म का कम प्रभाव है ? फिर भी अज्ञानी लोग कहते हैं- `आत्मा पर कर्म का प्रभाव नहीं है ।' कर्म का प्रभाव नहीं होता तो आत्मा इस शरीर में क्यों रहती ?

गाढ मिथ्यात्व के उदय में सत्य बात समझ में आती नहीं है अथवा समझने पर भी विपरीत बोलने का मन होता है ।

कर्म के प्रभाव के कारण ही धन लंपटों को भी हाथ जोडने पडते है । नालायकों को भी शेठ कहकर सलाम करनी पडती है । कई लोग कहते है - काम करते थक जाते हैं, फिर भी शेठ कदर करने के बजाय अनादर करते है । शेठ की गालियाँ सुननी पडती है । क्या यह सब कर्म का प्रभाव नहीं है ?

कर्म की पराधीनता के कारण ही जो अपने को पसंद नहीं होता है, वह भी अनिच्छा से करना पडता है । आत्मा पर कर्म का अत्यधिक प्रभाव है । क्या भोजन करना, आत्मा का स्वभाव है ? नहीं ! फिर भी `आत्मा के साथ कर्म का योग है', इसलिए करना पडता है ।

तप क्यों ?

खाने में कितनी उपाधि है ? खाने में जो उपाधि है, उसे देख, भोजन पर गुस्सा न आए, वह बुद्धिशाली नहीं है । पेट की मांग नहीं होती तो क्या हल्के व्यक्तियों की गुलामी करनी पडती ?

कई लोग कहते हैं-`पेट कराए वेठ ।' भोजन के पहले और भोजन के बाद क्या कम उपाधि है ?

पहली चिंता-भोजन प्राप्ति की `भोजन मिल जाय तो यह जीभ भूल कराती है' फिर पाचन तंत्र बिगडता है और उपाधि बढ़ जाती है । खाने के पहले समस्या और खाने के बाद समस्या ।

भोजन के बाद दूसरे दिन मल-शुद्धि न हो तो भी चिंता, उसके लिए अरंडे का तेल भी पीना पडता है ।

खाने में सुख कितना ? थोडा ! जीभ खुश हो उतना । मात्र शरीर के निर्वाह और धर्म आराधना के लिए भोजन करनेवाले कितने ?

तप किसलिए ?

तप भूख से मरने के लिए नहीं है, बल्कि खाने की उपाधि दूर करने के लिए तप है ।

भोजन की तरह हर सुख में यही समस्या हैं । पहले प्राप्ति की चिंता-फिर उसके भोग में भी दु:ख का अभाव नहीं । **ज्ञानियों का कथन है- 'जिस सुख में दु:ख रहा हुआ है, वह सुख वर्ज्य है ।**

मानव भव जैसी उत्तम सामग्री मिलने पर भी जो इस बात को नहीं समझ सका, वह कल्पतरु की प्राप्ति में भी भिखारी ही रहा है ।

'यह भौतिक सुख वर्ज्य नहीं है और अच्छा है' ऐसी बुद्धि पैदा करानेवाला मिथ्यात्व है । कर्म का प्रभाव नहीं होता तो ऐसी मिथ्याबुद्धि कहां से होती ?

जब तक मिथ्यात्व न जाय तब तक आत्मा में सम्यक्त्व प्रकट नहीं होता है । मिथ्यात्व की मंदता बिना जो धर्म होता है, वह बालक की गति जैसा होता है ।

'तजीए अवर अनादिनी चाल' - नवपद के स्तवन में आता है । वर्ष में दो बार नवपद की आराधना समय यह स्तवन सुना होगा । 'अनादि की चाल' छोडने की इच्छा है न ! अनादि की उस चाल को छोडे बिना अथवा उस चाल को छोडने की इच्छा किए बिना जो धर्म होता है, वह धर्म सार्थक नहीं बनता है ।

सुख की इच्छा पापोदय से :

साधु भगवंतों के पात्र में भी बहोराते बहोराते धन्ना सार्थवाह का मिथ्यात्व दूर हो गया । उसी प्रकार प्रभु के ऊपर अभिषेक की धारा करते करते आपका मिथ्यात्व भी दूर हो सकता है । परंतु उस समय आपके हृदय में भाव पैदा होने चाहिये । मिथ्यात्व को हटाने के लिए बडे हथियारों की

आवश्यकता नहीं है, परंतु आत्मा में शुभ भाव अवश्य चाहिये ! जब तक संसार के सुख की इच्छा में रमते रहोगे तब तक शुभ भाव नहीं आएगा । संसार के सुख की इच्छा के प्रति अरुचि पैदा हुए बिना और मोक्ष की इच्छा पैदा हुए बिना मिथ्यात्व जाता नहीं है । मिथ्यात्व को दूर करने के लिए पाप करानेवाले कर्म के प्रति धिक्कार भाव पैदा होना चाहिये ! इसके लिए सबसे पहले यह तय करो कि जो कर्म संसार के सुख की इच्छा कराता है, वह पाप है । संसार के सुख प्राप्ति की इच्छा पाप का उदय है । **पुण्योदय बिना संसार सुख की इच्छा फलीभूत नहीं होती है और पापोदय बिना वह इच्छा होती नहीं है ।**

जीवात्मा को संसार के सुख की जो इच्छा होती है, वह पाप के उदय से होती है । यह बात दिमाग में बैठती है ! पाप के उदय से संसार के सुख की इच्छा का जन्म होता है । वह इच्छा क्या कराती है ? वह इच्छा धर्म कराएगी तो पाप का बंध कराए बिना नहीं रहेगी । वह इच्छा धर्म को धर्मरुप में फलीभूत होने नहीं देती है ।

बढिया बढिया खाने की इच्छा पाप है और भक्ति अथवा दया से अच्छा खिलाने की इच्छा वह धर्म है । पहले में राग है और दूसरे में त्याग है ।

अच्छा खिलाने की इच्छा के पीछे भी यदि उससे भी अच्छा पाने की लालसा पडी हो तो वह इच्छा भी धर्म नहीं, बल्कि पाप है । संसार में सावधान न रहे तो पाप में गिरते देर नहीं लगेगी । संसार में धर्ममय जीवन जीना यह तलवार की धार पर चलने बराबर है । तलवार की धार पर चलना आसान है, लेकिन प्रभु द्वारा कहे हुए धर्म का पालन करना कठिन है । परन्तु उस धर्म के पालन बिना मोक्ष नहीं है । धर्म करना हो तो पाप से खूब सावधान रहना चाहिये । पाप के मूल को पकडकर उसे उखेडना चाहिये ।

संसार सुख की इच्छा पर द्वेष :

आप लोग यहाँ पर दुःख देनेवाले कर्म को तोडने के लिए आए हो, इसमें शंका को कोई स्थान नहीं है, परंतु साथ में सुख देनेवाले कर्मो को

बांधने की भी इच्छा है ? उस इच्छा के कारण भी पाप करानेवाले कर्म का बंध होता है ।

संसार के सुख की इच्छा से धर्म करनेवाले को पुण्य का बंध होता है और साथ में पाप का भी बंध होता है । इस कारण सुख के काल में भी दुःख हाजिर होता है । संसार के सुख की इच्छा से किए हुए धर्म से बंधे हुए पुण्य के उदय में धर्म भूला दिया जाता है और पाप का जोर बढ जाता है, यह भी संभव है ।

अपने मन में दुःख का द्वेष तो अनादिकाल से है, अतः दुःख दूर करनेवाले कर्मो को हटाने की इच्छा है । इसमें कोई आश्चर्य नहीं हैं, परंतु पाप करानेवाले कर्मो को हटाने की इच्छा हो तो काम हो जाय । इसके लिए संसार के सुख की इच्छा पर द्वेष पैदा करना चाहिये ।

अरिहंत परमात्मा केवलज्ञान की प्राप्ति से जीवन पर्यंत प्रतिदिन दो प्रहर देशना देते हैं और एक प्रहर गणधर भगवंत देशना देते हैं अर्थात् प्रतिदिन कुल तीन प्रहर तक देशना चलती है । उस समय वे तारक क्या फरमाते होंगे ? दुःख के द्वेषी जीवों को संसार सुख के द्वेषी बनने की प्रेरणा करते है ।

संसार सुख का द्वेष और मोक्ष सुख का राग पैदा हो जाय तो फिर मुक्ति दूर कैसे रहेगी ? प्रभु ने एक मात्र मोक्षमार्ग की ही प्रभावना की है, क्योंकि सुख का उपाय एक ही है । दुःख के ऊपर जो द्वेष हैं, वह द्वेष संसार के सुख पर आ जाय तो दुःख गए बिना नहीं रहेगा । संसार के सुख का राग छोडने जैसा लगेगा तो कर्म स्वतः धूजने लगेंगे । मोक्षमार्ग की आराधना करनी हो तो दुःख के डर और संसार सुख के राग को छोडने का अभ्यास करो । **हम दुःख के द्वेषी व सुख के प्रेमी है, इसलिए कर्म का 'जोर' चलता है । दुःख से नहीं डरेंगे और सुख को नहीं चाहेंगे तो कर्म भागने लगेगा ।**

संसार-चक्र :

सुख का द्वेष पैदा हो जाय तो व्यक्ति 75% सुखी हो जाता है । जगत् में **'इच्छा'** का ही सबसे बडा दुःख है । बुद्धिशाली व्यक्ति को भी

इच्छा का भूत लग जाय तो वह पामर हो जाता है । इच्छा के अधीन होनेवाला अवश्य **'दुःखी'** होता है । संसार के सुख पर द्वेष आ जाय तो वह **'बादशाह'** बन जाय ।

दुनिया के भयंकर चक्रों से भी संसार का चक्र महाभयंकर है । इच्छा होने के बाद पुण्ययोग से वह इच्छा पूरी हो जाय, तो पुनः दूसरी इच्छा पैदा हो जाती है, जैसे बटन दबाने से ही यंत्र (Machine) बंद होता है, उसी पर प्रकार संसार को बंद करने के लिए इच्छा के बटन को दबाना पडता है । दुनिया के चक्र का माप है, परंतु संसार के चक्र का कोई माप नहीं है ।

इच्छाओं पर नियंत्रण किए बिना श्री वीतराग के घर में प्रवेश शक्य नहीं है ।

श्री वीतराग का धर्म कठिन अवश्य है, परंतु वह संसार के सुख की इच्छावालों के लिए कठिन है । दुःख को सहन करने की और सुख के सामने नजर भी नहीं करने की ताकत रखोगे तो यह धर्म बहुत सरल है ।

नंदन मुनि मासक्षमण के पारणे मासक्षमण करते थे, लाखों वर्षों तक इस प्रकार मासक्षमण करने पर भी वे हमेंशा प्रसन्नमुख ही दिखते थे । तप के साथ अप्रमत्तभाव भी जोरदार था । किसी क्रिया में वे शिथिल नहीं थे, क्योंकि उन्होंने इच्छाओं का निरोध कर लिया था । उनका शरीरबल जरुर था, परंतु इच्छाओं पर नियंत्रण नहीं होता तो वे अप्रमत्त भाव से इतनी तपश्चर्या नहीं कर पाते ।

हमें तो भूख के बिना भी खाने की इच्छा हो जाती है । इतना नियम करे कि भूख लगे बिना नहीं खाना ।

'देखने की इच्छा हो जाय वह देखना नहीं और जो खाने की इच्छा हो जाय वह खाना नहीं, इतना नियम करोगे !'

छ मास के लिए भी इतना नियम कर लो ते आपको लगेगा, 'दुःख गया' ।

भूख बिना न खाए तथा भूख लगने पर भूख से ज्यादा न खाए ।' ऐसी आदत डालोगे तो जीभ की अधीनता अवश्य दूर होगी ।

पाप करानेवाले कर्म को दूर करना हो तो ऐसा निर्णय करो कि जो मिलेगा वह चलेगा ।

संसार अखरता है !

सिद्धगिरि की यात्रा के लिए आने के बाद भी यदि संसार के सुख का ही लक्ष्य होगा तो यह यात्रा फलीभूत नहीं होगी । संसार यह आत्मा का विकृत स्वरुप है और मोक्ष आत्मा का सच्चा स्वरुप है । जब तक यह सत्य भान नहीं होगा, तब तक आत्मा के विकृत स्वरुप को दूर करने और अपने मूल स्वरुप को प्रकट करने की इच्छा भी कहां से होगी ? जिसे अपना संसार पर्याय अखरता हो और अपने मोक्ष स्वरुप को पाने की इच्छा हो, उसी व्यक्ति का मोक्ष हो सकता है ।

संसार नहीं अखरता हो तो चाहे जितनी क्रियाएँ होगी, तो भी मोक्ष नहीं होगा ।

पूज्यपादश्री सभा :– आप को संसार अखरता हैं ?

हाँ ! कष्ट आने पर जरुर अखरता है ।

अनुकूलता मिलती है, तब संसार अखरता नहीं है, बल्कि अच्छा लगता है ।

प्रतिकूलता में नहीं, जब सुख में-अनुकूलता में संसार अखरेगा तो ही संसार अखरता है, ऐसा कहा जाएगा ।

जब तक आत्मा का विकृत स्वरुप नहीं अखरेगा, तब तक सच्चे स्वरुप को पाने की इच्छा नहीं होगी ! आत्मा के सच्चे स्वरुप को पाने की इच्छा हुए बिना अरिहंत आदि पंच परमेष्ठी के प्रति जैसी रुचि होनी चाहिये, वैसी रुचि नहीं होगी ।

श्री अरिहंत आदि पांच परमेष्ठी को नमस्कार करते हो, परंतु उनकी क्या पहिचान है ? सही पहिचान न हो तो उन तारकों को नमस्कार करने पर भी जो भाव आना चाहिये, वह नहीं आएगा । श्री अरिहंत आदि पंच परमेष्ठी के स्वरुप का विचार करोगे तो उन सभी में मोक्ष की बात आए बिना नहीं रहेगी । तात्पर्य यह है कि संसार के प्रति

अरुचि और मोक्ष के प्रति रुचि हुए बिना अरिहंत आदि पंच परमेष्ठी के प्रति सच्चा भक्तिभाव प्रगट नहीं होगा ।

परमेष्ठि-बहुमान :

अरिहंत आदि को नमस्कार क्यों करते हो ? उन तारकों को नमस्कार करने के साथ उनके स्वरुप को जानने का प्रयत्न है !

सभा में से : *बहुमान के कारण नमस्कार करते हैं ।*

पूज्यपादश्री : उन तारकों के प्रति बहुमान का कारण क्या ? जहाँ बहुमान होगा, वहां स्वरुप को जानने की जिज्ञासा भी अवश्य होगी ।

सभा में से : *उनका स्थान ऊंचा है ।*

पूज्यपादश्री : किसी का स्थान कितना ही ऊँचा क्यों न हो, वह हमें काम नहीं लगता हो तो हमें उसकी कींमत कितनी ?

अरिहंत आदि का स्थान ऊंचा क्यों है ? कारण पता है ?

अरिहंत परमात्मा ने मोक्षमार्ग दिखलाया ।

सिद्ध परमात्मा सिद्धिगति पाने की प्रेरणा देते है ।

आचार्य आदि मोक्षमार्ग के पालक, प्रचारक और साधक है । इस कारण उन पांचों का स्थान ऊंचा है ।

बहुमान अर्थात् हृदय का आदरभाव :

पंच परमेष्ठि-भगवंतों ने जो स्थिति प्राप्त की है, उस स्थिति को पाने की इच्छा हो और अपनी वर्तमान स्थिति अखरती हो, तब तो कह सकते हैं कि परमेष्ठि-भगवंतों के प्रति बहुमानभाव है ।

हृदय में संसार के सुख के प्रति अनुराग हो अथवा पंच परमेष्ठी की भक्ति भी उसी सुख को पाने के लिए की जाती हो तो कहना पडेगा कि वास्तव में पंच परमेष्ठी के प्रति बहुमान नहीं हैं, बल्कि संसार के प्रति ही बहुमान है ।

वीतराग की शरणागति :

वीतराग परमात्मा की स्तुति करते हुए कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी म. ने **'वीतराग-स्तोत्र'** में यह बात स्पष्ट की है कि

`जिसे अपनी शरणरहित अवस्था का भान हो, उसी को शरण पाने का मन होता है ।' श्री वीतराग की शरण के लिए दो शर्तों का स्वीकार चाहिये !

वीतराग की शरण स्वीकार करने का मन किसे होगा ? जो अपने आपको शरणरहित मानता होगा ।

आपको संसार का भय लगता है ? संसार का भय न हो तो संसार में शरण की जरुरत ही क्यों हो ?

संसार से भयभीत हुए बिना वीतराग की शरण सच्चे दिल से लेने का मन नहीं होगा ।

जिसे भय लगा हो वह तो शरण स्वीकार करने के लिए स्वयं महेनत करता है ।

एक कुत्ते के पीछे दूसरा कुत्ता पडता है, तब भयभीत कुत्ता किस प्रकार किसी के घर में घूस जाता है अथवा जहाँ रक्षण दिखाई दे, वहां छूप जाता है । उसे आप अपने घर से बाहर निकालना चाहो तो भी वह बाहर निकलने के लिए राजी नहीं होता है ।

आपको संसार से ऐसा भय लगा है ? हे प्रभो ! `संसार से तारो, संसार से तारो'-इस प्रकार बोलते हैं, परंतु क्या हृदय से संसार का भय लगा है ?

श्री नमुत्थुणं सूत्र में भगवान को शरणदाता कहा गया है, इसका रहस्य बतलाया है-**`भव से भय प्राप्त जीवों को शरण का दान करने-वाले ।'** भगवान भी उन्हीं को शरण दे सकते हैं, जिन्हें संसार का भय लगा हो । भव का भय लगे बिना तो भगवान भी शरण नहीं दे सकते है । वीतराग की शरण पसंद हो तो अपने को भव का भय लगना चाहिये ।

सभा में से : *विशिष्ट बोध बिना भी भव का भय तो है ।*

पूज्यपादश्री - सामान्य से भी संसार का भय लगा हो तो संसार से छूटने का मन हुए बिना न रहे । भव का भय अर्थात् संसार के दुःख का भय या संसार के सुख का भय ?

संसार का सुख भी छोडने जैसा है, ऐसा आपको लगता है ? जिसे संसार के सुख का राग अखरता न हो, उसे वीतराग की शरण प्राप्त हुई है, ऐसा कैसे कह सकते है ?

मोह के अधीन रहा जीव, वीतराग परमात्मा की शरण स्वीकार कर मोह की पराधीनता में से मुक्त हो सकता है ।

दुष्कृत-निंदा और सुकृत अनुमोदना :

मोह के जाल में से छूटने के लिए वीतराग की शरण जरुरी है । **'मोह के बंधन में से छुडानेवाले एक मात्र वीतराग परमात्मा ही है'**-यह भाव जिसे हो वह वीतराग की शरण का स्वीकार खूब भावपूर्वक करेगा ।

'मैं इस संसार में शरणरहित हूँ और एक वीतराग ही शरण्य है'- यह भाव आने पर वीतराग की शरण के लिए दो शर्ते बतलाई है- (1) अपने दुष्कृतों की निंदा और (2) सुकृतों की अनुमोदना-ये दो गुण जिसमें हो, वो ही वीतराग की शरण ले सकता है ।

अपने दुष्कृत जिसे नापसंद हो और सुकृत पसंद हो, उसी व्यक्ति को वीतराग पसंद पड सकते हैं ।

दुष्कृत आत्मा को मोह के साम्राज्य में भटकाते हैं और सुकृत मोह के बंधन में से मुक्त करते है ।

'दुष्कृत ही अपनी आत्मा का पतन करानेवाले है-इतना हृदय में आ जाय तो दुष्कृतों के प्रति अरुचिभाव पैदा हुए बिना नहीं रहेगा । अरुचि भाव पैदा हुए बिना उसकी निंदा नहीं हो सकती है ।

अपने जीवन में दुष्कृत ज्यादा हैं या सुकृत ? इसका कभी विचार किया हैं ?

सभा में से : *दुष्कृत ज्यादा होते है ।*

पूज्यपादश्री - दुष्कृत ज्यादा और सुकृत कम होते है, परंतु दुष्कृतों को छोडने की वृत्ति है ? सुकृत थोडा भी करे लेकिन उत्साह से करते हो ?

सभा में से : सुकृत में भाव क्यों नहीं आते हैं ?

पूज्यपादश्री - क्योंकि अभी तक दुष्कृतों के प्रति तिरस्कार भाव पैदा नहीं हुआ है । दुष्कृत अखरेगा तो सुकृत शुभ भावपूर्वक हुए बिना नहीं रहेगा ।

पहले दुष्कृत की निंदा-फिर सुकृत की अनुमोदना । इसका कारण है -`दुष्कृत निंदापात्र लगे बिना सुकृत अनुमोदना पात्र नहीं लगेंगे ।'

वीतराग की शरणागति :

दुष्कृत निंदापात्र लगेंगे तो विषय का रस और कषाय का जोर भी निंदापात्र लगेगा ।

विषय के रस और कषाय के जहर से ही पुण्य कर्म के उदय और ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त सामग्री का दुष्कृत में उपयोग होता है ।

जीवन में विषय का रस और कषायों का जोर नहीं होगा तो कोई दुष्कृत भी नहीं होगा ।

विषय के रस और कषाय के जोर से सुकृत करने का मन हो अथवा विषय सुख और कषाय सुख पाने की इच्छा हो तो वह वास्तव में सुकृत ही नहीं है ।

दुष्कृत से बचानेवाले साधन को ही दुष्कृत के कारण का पोषक बना दे तो वह सुकृत भी दुष्कृत से ज्यादा खराब हो जाय तो उसमें क्या आश्चर्य है ?

सुकृत के सेवन द्वारा तो दुष्कृत के कारण का नाश होना चाहिये ।

विषय के रस और कषाय के जहर से ही पुण्य कर्म के उदय और ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त सामग्री का दुष्कृत में उपयोग होता है ।

विषय का रस और कषाय का जोर मुझे दुष्कृत से जोडनेवाला है, अतः सुकृत के आचरण द्वारा मेरा विषय का रस और कषाय का जोर घटे, यह भाव सुकृत के आचरण में होना चाहिये । यह भाव जिसमें हो वो ही सच्चे भाव से दुष्कृत की निंदा और सुकृत की अनुमोदना कर सकता है ।

इस वृत्ति से दुष्कृत की निंदा और सुकृत की अनुमोदना करनेवाले को लगेगा कि एक वीतराग के सिवाय मेरे लिए कोई शरण्य नहीं है, क्योंकि वीतराग ही विषय-कषाय से मुक्त है और मुझे विषय-कषाय से मुक्त होना है ।

कर्म प्रति कैसा भाव ?

विषय-कषाय का जोर हमें दुष्कृत में जोडता है । पापकर्म के योग के कारण ही विषय-कषाय की ओर हमारा आकर्षण होता है । विषय-कषाय की अधीनता ही संसार है । संसार में रहना, यह अपना स्वभाव नहीं है, अपना स्वभाव तो मोक्ष में रहने का है । परंतु कर्म हमें संसार में रोकता है । कर्म के योग से ही हम संसार में भटक रहे हैं ।

कर्म को बांधनेवाला कौन ? कर्म का योग अनादि से है । पुराने कर्म जाने के पहले ही नए कर्म बांधने की हम भूल करते है, इस कारण कर्म का योग सदा रहता है । अपने को संसार में भटकानेवाला कर्म का योग ही है ।

पूज्यपादश्री संसार में भटकना, अपना स्वभाव नहीं है । कर्म ही हमें संसार में भटकाता है और अभी भी कर्म हमारा पीछा नहीं छोड रहा है । उस कर्म पर गुस्सा आता है ?

सभा में से हाँ ! दुःख देनेवाले कर्म पर गुस्सा आता है, परंतु सुख देनेवाले कर्म पर तो प्रेम ही है !

संसार का सुख पाने के लिए, प्राप्त सुखों के रक्षण के लिए, प्राप्त दुःख का नाश करने के लिए और भविष्य में दुःख नहीं आए, ऐसे कर्मों पर तो प्रेम ही है न !

धर्म कर्मनिर्जरा के लिए करने का है । पाप की प्रेरणा देनेवाले कर्म पर तो रोष ही होना चाहिये ।

दुःख पसंद नहीं है और संसार का सुख खूब चाहिये, इस कारण संसार के सुख की सामग्री पाने की इच्छा है, उन सुखों में आनेवाले विघ्नों को दूर करने की इच्छा है । इसका अर्थ है, सुख देनेवाले कर्म खूब पसंद है ।

जिसके जीवन में घातीकर्म के साथ गाढ मैत्री है, अघाती कर्म में

जो शुभ कर्म हैं, उस पर राग और अशुभ कर्म पर द्वेष हैं, इसका यही अर्थ हैं कि अभी तक जैन शासन की छाया पाने की योग्यता प्रकट नहीं हुई है ।

भूतकाल की भूल का पुनरावर्तन :

तारक सामग्री की प्राप्ति होने पर भी जिनेश्वर प्रभु के शासन को पाने की योग्यता पैदा न हो तो इसका क्या परिणाम आएगा ?

वर्षों से धर्म करनेवाले आपको और हमको इस बात की जांच करने की हैं कि, `धर्म क्रियाओं से मेरा राग कितना घटा है और त्याग की भावना कितनी विकसित हुई हैं ?'

भूतकाल में हमने धर्मक्रियाएँ नहीं की हैं, ऐसी बात नहीं है । धर्म नहीं किया होता तो यहाँ कैसे आते ? श्री जिनशासन के निकट आए हैं, यह सब धर्म का फल है ।

इतनी सामग्री मिलने के बाद भी संसार का राग न घटे तो यह किसका दोष हैं ?

भूतकाल में धर्म करते समय जो भूलें की, उसी का यह परिणाम है और आज पुनः उन भूलों का पुनरावर्तन हो रहा है । संसार के राग के पोषण के लिए धर्म नहीं है, बल्कि संसार का राग तोडने के लिए धर्म है ।

धर्म करते हुए संसार के राग का पोषण नहीं, बल्कि शोषण होना चाहिये ।

संसार के राग के अधीन बनकर चाहे जितना धर्म करे तो भी वह धर्म संसार से तारनेवाला कैसे बन सकता है ?

आज हमें धर्मसामग्री मिली है और संसार की सामग्री भी मिली है । संसार की सामग्री पर गाढ प्रेम है । धर्म की सामग्री पर प्रेम है ?

सभा में से : *'धावमाता जैसा ।'*

पूज्यपादश्री - धावमाता को शेठ के बच्चे पर जो प्रेम होता हैं, उतना प्रेम आपको धर्म पर है और धावमाता को जो प्रेम अपने बच्चे पर होता है, वैसा प्रेम अपने आप पर है । वास्तव में धावमाता जैसी मनोदशा

संसार के प्रति होनी चाहिये, बल्कि आज धर्म के प्रति धावमाता जैसा प्रेम है ।

आपको देव के देवत्व की कींमत नहीं है । परंतु देव द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध होता हो, उतना ही खप है । ऐसी मनोदशा होने के कारण आज जितने भी धर्मानुष्ठान होते हैं, अधिकांशतः विष और गरल होते है और कुछ अननुष्ठान हो सकते है । संसार में जो पक्के होते हैं, वे तो विष और गरल अनुष्ठान ही करते है । अननुष्ठान करनेवाले तो मुग्ध कोटि के जीव होते है ।

हमें तद्हेतु और अमृत अनुष्ठान चाहिये, जब तक धर्म के प्रति धावमाता जैसा व्यवहार होगा तब तक वह अनुष्ठान कहां से आएगा ?

मोहनीय कर्म के साथ गाढ मैत्री :

'जिनेश्वर परमात्मा के शासन में विष आदि अनुष्ठान निषिद्ध है'-यह बात अनेकबार सुनी होने पर भी विष आदि अनुष्ठान करते हो तथा विष गरल के भाव होने पर भी जो भाव अखरते नहीं हो तो इससे सिद्ध होता है कि उन्हें संसार का सुख खूब पसंद हैं और कर्म के उदय से आए दुःखों को सहन करने की इच्छा नहीं है । लोग संसार के सुख की ही चिंता करते रहते हैं ।

संसार के सुख की इच्छा करनेवाले सभी को संसार का सुख मिलता नहीं है, परंतु अधिकांश लोग उस सुख की आशा में ही जीते है । मोहनीय कर्म का उदय ही जीव को संसार सुख की इच्छा कराता है ।

मोहनीय कर्म के साथ जिसे गाढ मैत्री हो, उसे अरिहंत और सिद्ध के साथ मेल कैसे संभव है ?

जो लोग मानते हैं कि आत्मा पर कर्म का असर नहीं होता हैं, वे मुर्ख है । आत्मा पर अन्य पदार्थ की असर नहीं होती हो तो यह जीव कभी भी संसार में भटक नहीं सकता । आत्मा पर कर्म का प्रभाव हैं, इसीलिए तो हम संसार में भटके है । आत्मा पर कर्म का प्रभाव है, इसीलिए तो उत्तम सामग्री मिलने पर भी संसार का राग घटता नहीं है ।

संसार के सुख के लोभ के कारण ही आत्मा संसार में भटकानेवाले कर्म का बंध करती है ।

लघुकर्मी हुए बिना संसार के सुख का राग घटता नहीं है और उस पर द्वेष पैदा नहीं होता है ।

सभा में से आत्मा लघुकर्मी कब बनती है ?

पूज्यपाद श्री जिनवाणी का श्रवण आदि करे तो ।

लघुकर्मी आत्मा बनती है परंतु उसमें निमित्त `उपदेश' हो सकता है ।

आत्मा पर अन्य पदार्थ की असर नहीं होती हो तो उपदेश देने की भी जरुरत नहीं रहती ।

धर्म के साथ संबंध :

संसार के सुख का लोभ करना, क्या आत्मा का स्वभाव है ?

विषय की अभिलाषा और कषायों की उत्तेजना क्या आत्मा का स्वभाव है ?

नहीं ! यह सब कर्म के योग का ही प्रभाव है । `संसार के सुख के लोभ ने आत्मा की कैसी दुर्दशा की है ।' यह ख्याल लघुकर्मिता हुए बिना नहीं आता है ।

अधिकांशतः संसार के सुख के लोभ के कारण ही धर्म आचरण में बाधाएँ खडी होती है ।

धर्म में बाधाएँ आती हैं, उसका दुःख कितना है ? संसार का काम नहीं होता हैं, तो उसका दुःख कितना और धर्म का काम नहीं होता हैं तो उसका दुःख कितना ?

कर्म के योग से आनेवाले दुःख का जो द्वेषी हैं और कर्म के योग से आनेवाले सुख का रागी हैं, ऐसा व्यक्ति ओघा हाथ में लेकर घूमे तो भी क्या होवे ?

ऐसे द्वेष और राग में आनंद माननेवाला धर्म क्यों करता है, यही एक सवाल है !उसे धर्म के साथ क्या लेना-देना, उसे तो सुख दिलानेवाले कर्म के साथ तथा उस सुख को दिलाने में आवश्यक पाप करानेवाले कर्म के साथ ही मेल होता है ! फिर वह दुःखी न हो तो और क्या होगा ?

ऐसा जीव धर्मक्रिया का कष्ट सहन करता है, उससे पुण्य बंध होता है, फिर उस पुण्य के उदय से सुख सामग्री मिलती है, परंतु वह सुख सामग्री को भोग नहीं पाता है । विषय की लोलुपता और दुर्ध्यान का दावानल उसके हृदय में सुलगता रहता है, परिणाम स्वरुप वह भयंकर दुष्कर्म ही उपार्जित करता है । उन दुष्कर्मों के उदय से वह दीर्घकाल तक दुर्गति के दुःखों का अनुभव करता है ।

संसार के सुख की सामग्री धर्म से मिलती है, धर्म बिना तो संसार के सुख की सामग्री भी नहीं मिलती है । परंतु सुख के लोभी बनकर उसी सुख के लिए धर्म करने की वृत्ति रहेगी तो दुःख कभी जाएगा नहीं और सुख आएगा नहीं ।

श्रमण-श्रावक की मान्यता एक है ।

गृहस्थ की मान्यता साधु की तरह होनी चाहिये । साधु और श्रावक के व्रत व आचरण में फर्क है । साधु सर्वत्यागी है और गृहस्थ परिवारवाला है, परंतु उन दो की मान्यता में विरोध नहीं होना चाहिये ।

दृष्टि अर्थात् मान्यता ।

श्रावक भी सम्यग्दृष्टि और साधु भी सम्यग्दृष्टि । आपको तो बहुत ही सावधान रहना है । घर में रहते हुए `घर में रहना खराब, यह मानना है ।'

घर में रहने पर भी श्रावक को लगना चाहिये कि `मैं पराई पंचायत में बैठा हूँ ।' हमारा मन बिगडे, ऐसे साधन नहीं, फिर भी मन बिगडे तो यह हमारा दुर्भाग्य है । आप लोग ऐसे संयोग में बैठे हो कि मन न बिगडे तो आप महान भाग्यशाली हो ।

संसार के सुख के रागी और दुःख के द्वेषी को धर्म के साथ क्या संबंध है ?

ये जीव धर्मक्रिया आदि का कष्ट सहन करते हैं, इससे पुण्य का बंध होता है, उस पुण्य के उदय से सुख की सामग्री मिलती है, परंतु उस सुख सामग्री को वह भोग नहीं पाता है । विषय की लोलुपता और कषाय की अधीनता के योग से उसके हृदय में असमाधि और दुर्ध्यान का दावानल सुलगता रहता है, इसके फलस्वरुप वह भयंकर कोटि के कर्म बांधता है ।

सुख-सामग्री का काल थोडा और उस काल में भी सुख का अनुभव नहीं । उस काल में उपार्जित दुष्कर्म के प्रभाव से लंबे समय तक दुर्गति का दुःख भुगतना पडता है ।

संसार के सुख की सामग्री धर्म से ही मिलती हैं । धर्म बिना संसार के सुख की सामग्री नहीं मिलती हैं, परंतु उस सुख के लोभ से जो धर्म करता है, उसका न तो दुःख जाता है और न ही उसे इच्छित सुख मिलता है ।

धर्म में पैसे खर्च करने की बात बाद में, पहले खर्च करने का हेतु देखना है । आप लोग मुर्खता से धर्म में धन खर्च नहीं करते हो । मन में क्या भाव है ? `यहां खर्च करेंगे तो भविष्य में ज्यादा मिलेगा, यही भाव हैं न !' थोडा भी धन, धन की मूर्च्छा उतारने के ध्येय से खर्च करोगे तो वह ज्यादा महत्त्व का है ।

समकिती पैसे नहीं रखता हो, ऐसी बात नहीं है, परंतु `पैसे रखने योग्य है'-ऐसा नहीं मानता है । आपके पास तो क्या धन है, परंतु जिनके पास अमाप धन था, उन्हें भी शास्त्रकारों ने समकिती कहा है । इसके पीछे कारण क्या ?

पैसे नहीं रखने से या छोड देने से समकित आ जाता है, ऐसा नहीं है । साधुपने की प्राप्ति के लिए धन का सर्वथा त्याग जरुरी है, परंतु देशविरति या समकिती के लिए ऐसा नहीं है ।

पैसे का होना या न होना महत्त्वपूर्ण नहीं है, परंतु पैसे के ममत्व का त्याग महत्त्वपूर्ण है । भिखारी भी समकिती हो सकता है और श्रीमंत भी ! भिखारी भी मिथ्यादृष्टि हो सकता है और श्रीमंत भी ! पढ़ा लिखा भी समकिती हो सकता है और अनपढ भी ।

अच्छे या खराब का मापदंड श्रीमंताई अथवा गरीबी नहीं है । अच्छे या खराब का सही मापदंड तो `मनोवृत्ति' है ।

गृहस्थ की दृष्टि साधु जैसी होनी चाहिये । साधु और श्रावक के व्रतादि में फर्क होता है । साधु सर्वत्यागी और श्रावक घरवाला ! परंतु उन दोनों की दृष्टि में विरोध नहीं होना चाहिये ।

प्रवचन-2

58

आत्म-धर्म

इस जगत् में आत्मा और जड ये दो मुख्य तत्व है । आज हमें **'आत्मधर्म'** के बारे में विचार करना है । जड के धर्मो का तो प्रत्यक्ष अनुभव है और उसके रंग-राग में जल्दी आकर्षित हो जाते है, परंतु मुख्य वस्तु तो आत्मा हैं, उसे हम देख नहीं पाते है, अतः उसके स्वरुप को समझने के लिए तथा उसके धर्म को विकसित करने के लिए हमें विचार करना है ।

दुनिया के सभी आस्तिक दर्शनकारों ने आत्मा और आत्मा के धर्म का न्यूनाधिक प्रमाण में वर्णन किया है । जिस दिन आत्मा और आत्म-धर्म का यथार्थ रुप ख्याल आ जाएगा, उस दिन जिस आनंद, सुख व शांति का अनुभव होगा, वह कुछ और ही होगा । यदि आज सभी को आत्म-धर्म का भान हो जाय तो आज की अशांति सहज नष्ट हो जाएगी ।

आत्म-धर्म का ज्ञान प्राप्त कर उसे आत्मसात् करने की भावना न जगे तब तक आत्मा का साक्षात्कार शक्य नहीं है । आत्मधर्म के ज्ञान की भावना पैदा होना भी सरल नहीं है, फिर भी सद्गुरु के सहवास में आकर बाह्य पदार्थो में से चित्त को हटाकर कुछ समय के लिए भी शांत चित्त से आत्म स्वरुप का रोज विचार किया जाय तो धीरे धीरे भी आत्म प्रतीति हुए बिना नहीं रहेगी ।

पहले यह स्वीकार करे कि, **'शरीर, यह आत्मा नहीं है । आत्मा इस शरीर से भिन्न अदृश्य वस्तु है ।** इस कारण आयुष्य समाप्ति के साथ ही आत्मा शरीर को छोडकर अन्यत्र चली जाती है ।

आत्मा, यह लोक और परलोक ये सभी वस्तुएँ बुद्धिगम्य और युक्ति से संगत है ।

एक ही क्षण में उत्पन्न हुई आत्माओं में भी परस्पर भिन्नता दिखाई देती है । उसका क्या कारण है ? एक अच्छे कुटुम्ब में पैदा होता है तो दूसरा अधम कुटुंब में जन्म लेता है । एक ही पिता व माता से उत्पन्न हुए दो पुत्रों में एक मंद बुद्धिवाला और दूसरा तीव्र बुद्धिवाला होता है । एक विकसित शक्तिवाला होता है तो दूसरे की शक्ति विकसित करने में वर्षो लग जाते हैं, इन सबका क्या कारण है ?

अवश्य ही इसमें पूर्व का योग, पूर्व के संस्कार और सामग्री कारण-रुप है, इस कारण ही शरीर और आत्मा में भिन्नता है, शरीर और आत्मा अलग अलग है, इस कारण शरीर के धर्म आत्मा के धर्म से भिन्न है, यह सिद्ध हो जाता है ।

चौबीस घंटे हम शरीर के सौंदर्य आदि को विकसित करने के लिए प्रयत्न करते हैं तो फिर शरीर के मालिक की क्या हालत होगी ? एक दिन इच्छा अनिच्छा से भी शरीर को छोड़ना ही पडता है ।

इस जीवन में यदि आत्मकल्याण के लिए योग्य पुरुषार्थ नहीं करेंगे तो फिर सभी दर्शनकारों ने मानव जीवन की जो महत्ता आंकी है, वह हमारे लिए कैसे सफल होगी ?

भविष्य न भूले :

ज्ञान, बुद्धि और सामग्री का श्रेष्ठ सदुपयोग मानव भव के सिवाय अन्य किसी भव में संभव नहीं है । जब तक आत्मा और आत्मा के धर्म का स्वरुप ख्याल में नहीं आएगा तब तक सभी को अपने कर्तव्य का भान नहीं होगा । जिस दिन सभी को अपने कर्तव्य का भान हो जाएगा, उस दिन सभी झगडे स्वतः शांत हो जाएंगे ।

'मुझे यह शरीर छोडकर अन्यत्र जाना है' इस बात को आज लगभग भूल गए है । 'यहा से जाने के बाद मेरा क्या होगा ?' -यह चिंता आज लगभग चली गई है ।

आज अधिकांश लोग सिर्फ-'वर्तमान की चिंता में डूबे हुए है । तत्ववेत्ताओं की मान्यता है कि-भविष्य में सुखी होना हो तो वर्तमान के कष्ट

की चिंता न करे ।' मात्र वर्तमान का विचार करने से सार-असार का विवेक प्रकट नहीं होता है और प्रकट हुआ हो तो भी नष्ट हो जाता है । भविष्य का विचार पहले करना चाहिये !

व्यवहार में भी व्यापारी भविष्य के लाभ के लिए अनेक कष्ट सहन करता है ।

भविष्य का विचार छोडकर जो सिर्फ वर्तमान के ही विचारों में डूबा रहता है, वह अपने कर्तव्य पालन से च्युत हुए बिना नहीं रहता है ।

आत्मा अनंतशक्ति का मालिक है, परंतु आज चिंता, विकल्प तथा आधि, व्याधि और उपाधि से दुःखी हैं, अतः उस दुःख को दूर करने के लिए अवश्य दीर्घदर्शी बनना चाहिये । भविष्य का विचार करना चाहिये । सिर्फ वर्तमान की क्रियाएँ, पेट भरना, बाल-बच्चे पैदा करना और मोज मजा करना, ये क्रियाएँ तो कौन नहीं करता है ?

तुच्छ प्राणी भी अपने रहने के लिए घर बना देते हैं, वर्तमान की इच्छापूर्ति करते हैं और आपत्ति में भाग दौड करते हैं । मात्र वर्तमान का विचार तो क्षुद्रजंतुओं में भी होता है ।

हितैषी की ओर सद्भाव :

वर्तमान मोज शोख के साधन व भौतिक आबादी में ही जो स्वर्ग व मोक्ष की कल्पना करता हो, उस व्यक्ति को तो धर्मशास्त्र भी सिर्फ बोझरुप लगेंगे ।

आत्महित चिंता के प्रति जो बेपरवाह बने हैं, उन्हें अपने स्वयं के दोष सुनने की इच्छा भी नहीं होती है, फलस्वरुप गुणों का आगमन बंद हो जाता है ।

जीवन में अहंकार आने से शिष्ट पुरुषों का समागम और तत्व चिंतन आदि गुणों का आगमन बंद हो जाता है ।

आज अधिकांश लोगों में अपनी क्षतियाँ सुनने की भी ताकत नहीं रही है, इस कारण कोई भूल बताए तो बुरा लगता है । परंतु जब आत्मज्ञान होगा तब अपनी भूल बतानेवाले उपकारी लगेंगे ।

इस दुनिया में सच्चे या झूठे गुण गानेवाला तो बहुत मिल जाएंगे, क्योंकि सामनेवाले का भला हो या बूरा, इस चिंता को छोडकर अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए झूठी चापलूसी करनेवाले लोगों की दुनिया में कमी नहीं है ।

सभा : *भूल बताकर कडवा कौन बनेगा ?*

पूज्यपादश्री - कडवी औषध तो माँ ही देती है न ! बच्चे की लाते और तिरस्कार भी माँ सहन करती है । सब कुछ सहनकर भी माँ ही बच्चे को दवाई पिलाती है । बच्चे की लातें व तिरस्कार से भी बच्चे के पेट में दवाई जाय, यही बात माँ के मन विशेष होती है ।

इसी प्रकार समानेवाले का अपमान सहन करके भी भूले बताने का काम कौन करेगा ? जो सच्चा हितैषी होगा, वही न !

अपनी क्षतियाँ बतानेवाले जब हितैषी लगेंगे, तब अपने जीवन में से धीरे धीरे क्षतियाँ दूर होगी ।

क्षतियाँ देखने और सुनने की योग्यता पैदा होगी तब सत्य को जानने की तीव्र जिज्ञासा पैदा होगी ।

आत्म-रोग की चिंता :

शरीर में थोडी भी बीमारी आती है और तुरंत डॉक्टर के पास भागते है । डॉक्टर कह दे कि रोग भयंकर है । इस रोग से बचने के लिए पांच इन्द्रियों के सभी सुख छोडने पडेंगे । पहले इच्छानुसार कुछ भी खा-पी लेते थे, अब नियम के अनुसार ही खा-पी सकोगे ।

डॉक्टर की इन बातों को मानोगे या नहीं ? डॉक्टर कहेगा तो शरीर के लिए सब कुछ छोडने के लिए तैयार हो जाओगे । ऐसा क्यों ?

क्योंकि शरीर को अपना माना है, शरीर की आबादी में अपनी आबादी मानी है ।

ज्ञानियों का कथन हैं-इस शरीर की चाहे जितनी संभाल करे, आखिर एक दिन यह धोखा देनेवाला है ।

अवश्य नष्ट होनेवाले शरीर के लिए इतनी सावधानी और आत्मा के रोग की कुछ भी चिंता नहीं ?

आत्मा शाश्वत हैं, परंतु अभी अस्वस्थ है तो उसे सुधारने के लिए चिकित्सक चाहिये या नहीं ? आत्मा के रोग के लिए कुछ चिंता है ?

सुख प्राप्ति की भावना और प्रयत्न ?

आज दिन-प्रतिदिन जीवन में से सात्त्विकता नष्ट होती जा रही है। अच्छे संस्कार समाप्त हो रहे है। पूर्वकालीन महापुरुषों की उत्तम भावनाओं का विचार करो। वे अपने घोर दुश्मनों के प्रति भी उपकार की भावना रखते थे। आज वे भावनाएँ नष्ट हो रही है।

आज आचारशुद्धि नहीं है तो साथ में विचारशुद्धि भी नहीं है। विचार सुधरे बिना विवेक संभव नहीं है। विवेक के बिना हेय-उपादेय का भान नहीं। उसके बिना अंतरंग शत्रुओं पर विजय नहीं और अंतरंग शत्रुओं पर विजय बिना सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं।

`दुःख और अशांति नहीं, सुख और शांति चाहिये।' परंतु इच्छा करने मात्र से दुःख दूर होनेवाला नहीं और सुख प्राप्त होनेवाला नहीं। सुख कोई रास्ते में पडी हुई चीज नहीं है, उसके लिए तो योग्य पुरुषार्थ चाहिये।

किसी कवि ने कहा है-

धर्मस्य फलमिच्छन्ति, धर्मं नेच्छन्ति मानवाः।
फलं पापस्य नेच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति सादराः॥

धर्म के फल सुख, संपत्ति और आबादी को सभी चाहते हैं। परंतु धर्म करने की बात आती हैं तो बहाना निकालते है `शरीर अनुकूल नहीं है, संयोग प्रतिकूल हैं, समय का अभाव है' -इत्यादि।

पाप का फल अशांति, दुःख तथा वेदना को कोई हृदय से नहीं चाहता है, परंतु पाप त्याग की बात पर किसी विरल आत्माओं को ही प्रेम होता है।

धर्म का फल चाहिये, किन्तु धर्म नहीं। पाप का फल नहीं चाहिये, परंतु उपाधि तो चाहिये। आधि अर्थात् मन की पीडा और

व्याधि अर्थात् शरीर की पीडा, ये दोनों नहीं चाहिये, किन्तु इन दोनों को उत्पन्न करनेवाली उपाधि तो चाहिये ही ।

उपाधि छोडने की बात तो दूर रही, उसे पाने की आशा का भी त्याग नहीं ! आशा छोड़ने की बात तो दूर रही, उसे पाने में अनीति के आचरण के त्याग की भी भावना नहीं । इतना ही नहीं, आज अनीति का डर भी नहीं रहा है । आज तो कई लोग अनीति करनेवाले की भी प्रशंसा करते है, `कितना होशियार है ।'

भाग्यशालियों ! इस विपरीत दशा का परिणाम देखो । धीरे धीरे पाप बढता गया । आज मृषा भाषण, लोभ-लालच, ममता, भोग, भोग-सुख की भावनाएँ वटवृक्ष बन गई है ।

पाप का फल नहीं चाहिये, परंतु पाप आदरपूर्वक करते है । इसका परिणाम यह आया है कि पापभीरुता नष्ट हो गई है । अपने स्वार्थ को साधने के लिए सामनेवाले का कुछ भी करने की तैयारी है । पाप का भय न हो तो धर्म का प्रेम कैसे बढेगा ? पाप-भय बिना उत्तम भावनाएँ कैसे पैदा होगी ?

चार उत्तम भावनाएँ :

सन्मार्ग के आराधक महापुरुषों का जीवन देखो । उन्हें पाप का कितना भय था !

'किसी भी प्राणी को मेरी ओर से तकलीफ न हो, किसी का भी बुरा न हो' यह उनकी भावना थी । आत्मा के उद्धार के लिए चार उत्तम भावनाओं को जीवन में आत्मसात् करनी चाहिये ।

जिसमें ये चार भावनाएँ पैदा होगी, वह पाप से भीरु और धर्म का सेवक हुए बिना नहीं रहेगा । ये चार भावनाएँ है-मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य ।

मैत्री भावना :

'जगत् में मेरा कोई दुश्मन नहीं है, यदि हो तो उसका भी भला हो'-यह परहित चिंतन रुप मैत्रीभावना है । दूसरे के हित की चिंता करने-

वाले को हिंसा, झूठ, चोरी व्यभिचार और परिग्रह का पाप खटके बिना नहीं रहता है ।

हिंसा में दूसरों को पीडा है, झूठ में दूसरों को पीडा है, चोरी और व्यभिचार में दूसरों को पीडा है तथा परिग्रह भी दूसरे को पीडा दिए बिना प्राप्त नहीं होता है ।

परहित की चिंता करनेवाले को अपने पाप खटकेंगे ही । `दुश्मन का भी भला हो' इस भावना का संपूर्ण आचरण, हिंसादि पापों से सर्वथा निवृत्त हुए बिना शक्य नहीं है । गृहस्थ अवस्था में इस भावना का संपूर्ण आचरण शक्य नहीं है, फिर भी भावना तो यही होनी चाहिये ।

कदाचित् अपराधी को शिक्षा करनी पडे तो भी उसका बूरा तो नहीं सोचना चाहिये । शिक्षा भी उसके सुधार के लिए होनी चाहिये । इस शिक्षा में भी दुन्यवी पदार्थों के संरक्षण आदि का कारण होगा तो वह उसे अवश्य खेद पैदा करेगा । जिसके हृदय में मैत्री आदि भावनाएँ होगी, वह हिंसादि पापों से मुक्त बनने के लिए प्रयत्न किए बिना नहीं रहेगा, क्योंकि उसके बिना उस भावना का जीवन में आचरण शक्य नहीं है ।

प्रमोद भावना :

किसी के भी गुण को देखकर हृदय में आनंद हो । दुश्मन के भी गुण देखकर खुशी हो । ये गुण सभी में पैदा हो तो कितना अच्छा ! गुणों का पक्षपात उसी का नाम प्रमोद भावना हैं ।

करुणा भावना :

गुणहीन, दोषी और दुःखी व्यक्ति के प्रति करुणा भावना होनी चाहिये । हीन गुणी, अल्पगुणी, दोषी या दुःखी जीव को देखकर हृदय में करुणा का झरना बहना चाहिये ।

भवरोग से पीडित और विषय-कषाय की अधीनता के कारण दुःखी बने जीवों के प्रति दयाभाव होना चाहिये ।

करुणावंत व्यक्ति में उपकार करने की भावना सहज होती है, अवसर आने पर योग्य व्यक्ति को योग्य हितशिक्षा दिए बिना नहीं रहेगा ।

सामने वाले व्यक्ति को दोष से बचाने के लिए थोडा उग्र बनना पडे तो वैसा भी करे । वैद्य द्वारा निषिद्ध वस्तु लेने से दर्दी की हालत खराब होती हो तो सगी मा व सगा पिता कठोर बनकर भी दर्दी को बचाने की कोशिश करते है ।

बस, इसी प्रकार सच्चा दयालु किसी के प्रति दुर्भाव या अरुचि-वाला नहीं होता हैं, परंतु सामनेवाले का आत्महित होता हो तो बाहर से कठोर व उग्र भी बनता है ।

करुणावंत आत्मा, स्व-पर के दोष निवारण के लिए शक्य प्रयत्न, योग्य रीति से किए बिना नहीं रहता है ।

माध्यस्थ्य भावना :

करुणावंत व्यक्ति पूरी महेनत करने के बाद भी सामनेवाला व्यक्ति सुधरे नहीं तो उसके लिए शास्त्रकारों ने चौथी उपेक्षा भावना बताई है अर्थात **'तस्य भाग्यम् ।'** उसके लिए अपना बिगाडने की आवश्यकता नहीं है ।

इन चार भावनाओं से युक्त आत्मा हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और दुन्यवी पदार्थों की मूर्च्छा-आसक्ति को अच्छा नहीं मानती है अतः कदाचित् हिंसा आदि का संपूर्ण त्याग न भी हो तो वह आत्मा इन पांचों वस्तुओं को छोडने योग्य तो अवश्य मानती है ।

जगत् पर सच्चा उपकार भी वे ही कर सकते है, जो इन पांचों पापों से मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील हो ।

सभी धर्मों के स्थापकों ने जगत् को जो इन पांचों के त्याग का उपदेश दिया है, यद्यपि उसमें काफी तरतमता है, फिर भी पापभीरुता और धर्म का सच्चा अर्थीपना आएगा, तो सत्य समझते देर नहीं लगेगी ।

इन चार भावनाओं से युक्त एक रंक व्यक्ति भी जिस आनंद की अनुभूति कर सकता है, वह आनंद छह खंड का अधिपति चक्रवर्ती भी नहीं कर सकता है ।

ध्येय समझो :

शरीर को छोडकर जाना है । ममता नहीं होगी तो शरीर का

इच्छापूर्वक त्याग कर सकोगे और ममता होगी तो अनिच्छा से भी शरीर छोडना पडेगा ।

`नाशवंत वस्तुओं के लिए जितने प्रयत्न होते हैं, उतने प्रयत्न आत्मा के लिए नहीं होते हैं ।' इसका ख्याल देने के लिए ही आज का `आत्म-धर्म' प्रवचन रखा गया है ।

दुन्यवी कलाएँ सीखने के लिए स्कूल-कॉलेज हैं, शरीर की खबर पूछनेवाले होते है । व्यापार-व्यवहार की सलाह देनेवाले हैं, हमें उनका विचार करने की आवश्यकता नहीं है । उन कार्यों में तो आप सब लोग होशियार हो ।

परंतु गुण-दोषों का हिसाब कभी किया है ? दुनियाँ में जन्म लेकर अच्छा कितना किया और बूरा कितना किया ? दान कितना दिया और लूंट कितनी चलाई ?

ऐसा न मान ले कि हमनें आप सभी को लूटेरा कह दिया ! जो कहा जा रहा है, वह आपके हित के लिए हैं । जीवन में दुर्गुण हो तो उसे निकालने के लिए और न हो तो न आए उसकी सावधानी के लिए ।

आप लोगों में दुर्गुण न हो तो मुझे खुशी है । परंतु हमारी जो फर्ज है, उसी के लिए कहता हूँ कि उत्तमोत्तम मनुष्य जीवन पाकर सदाचार का सेवन कितना किया और दुराचार-अनाचार का सेवन कितना किया ? सहिष्णु कितने बने और असहिष्णु कितने बने ? विषय में आसक्त बने या अनासक्त ? इन्द्रियों के अधीन बनकर अयोग्य प्रवृत्ति ज्यादा की या इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर अयोग्य प्रवृत्ति से बचे ? दूसरों का भला ज्यादा चाहा या बुरा चाहा ?

किसी कवि ने कहा हैं-

`ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः'

ज्ञान से हीन मनुष्य पशु समान है । पशु को सिंग और पूंछ होती हैं, अतः कहा-

`शृङ्गपुच्छविहीनाः ।'

यहाँ कवि का आशय मनुष्य जाति का अपमान करने का या ज्ञान-हीनों को गाली देने का है ?

नहीं ! कवि का आशय तो यह है कि मनुष्य को अपने मनुष्यपने का ख्याल आए । मनुष्य अपने स्वरुप को समझे । मनुष्य होने पर भी अपने में पशुता आ रही हो तो सावधान बन जाय ।

शिष्टपुरुषों के अधीन बनो :

पर वस्तु में रही लीनता और ममत्व भाव को दूर कर स्व-स्वरुप की ओर आत्मा को मोडने के लिए यह सब प्रयत्न हैं । चेतन और जड़ जो मूल तत्त्व है, उनमें जड प्रति अरुचि भाव न जगे और जड की प्राप्ति में आनंद व वियोग में दुःख की कल्पना दूर न हो तब तक सत्य हाथ में आना मुश्किल है ।

कोई पूछे-`जीवन का साध्य क्या ?'

उस समय यही कहोगे न-`पांच बंगला बनाऊंगा ! अमेरिका व जापान तक पेढी खोलूंगा ।'

परंतु इसमें आपको फायदा क्या ? आपके साथ उसमें से क्या आनेवाला है ? क्या इसमें जीवन का सुधार है ? मनुष्य की जींदगी का यही परिणाम ?

अपनी संतान के प्रति बडों की क्या फर्ज है ?

बालक में एक भी दोष घुस न जाय और अधिक से अधिक गुण प्रकट हो, यही सावधानी बड़ों को रखने की है ।

पैर में काँटा लग जाय तो उसे निकालने के लिए तीक्ष्ण सुई भी अंदर डालेंगे । उसके बाद भी न निकले तो चमडी में छेद भी कराएंगे । कांटा पैर में रह जाय तो नुकसान करे, इस बात का आपको पता है तो फिर आत्मा में कोई दोष घुस जाय तो कोई महेनत नहीं ?

विष खाने से आदमी मर जाता है, किसी से सुनी हुई यह बात मानते हो या अनुभव करके मानते हो ? पाप का प्रयोग करने जैसा नहीं है । नाशकारक वस्तुओं का अनुभव करने का नहीं होता है । शिष्टपुरुष कहते हो तो वह बात मान लेनी चाहिये ।

स्कूल में पढने के लिए जाते हैं, तब बालक यह तर्क नहीं करता है कि एक का अंक ऐसा ही क्यों होता हैं ? यह तर्क करने जाय तो वह पढ भी नहीं सकता है ।

व्यवहार में तो सब कुछ मानते हो और धर्म की बात में शिष्टपुरुषों की बातें हंबग लगती है । इसका परिणाम क्या ? सत्संग, शास्त्र-अभ्यास, मनन आदि सब चला गया और अर्थ-काम की साधना में प्रवीण बन गए ।

जरा सोचे, पच्चीस-पचास के वेतन के लिए पांच-छ घंटों की गुलामी करनी पडती है तो फिर आत्मकल्याण के लिए कुछ भी नहीं करना पडे ?

पैसे कमाने के लिए किसी की अधीनता स्वीकार करनी पडे तो आत्मा की अनंत शक्ति प्रकट करने के लिए किसी की शरण स्वीकार करनी पडेगी या नहीं ?

काल का चक्र :

आज कुछ लोग कहते है-देव यह तो मूर्ति है, गुरु में कुछ नहीं है और धर्म तो पुराने जमाने की बाते हैं ।

मैं पूछता हूँ-`दुनिया की ये सभी वस्तुएँ आत्मा का रक्षण करेगी ?'

संसार की हर लाइन के अभ्यास के लिए समय है, तो आत्मा और आत्मा के धर्म का अभ्यास करने के लिए समय क्यों नहीं ? आत्म-हित के लिए किया गया प्रयत्न सफल या निष्फल ? यदि आपको आत्म-तत्त्व पर श्रद्धा होगी तो कुछ करने का मन हुए बिना नहीं रहेगा ।

अर्थ-काम का लालच देकर दुनिया को अपनी बनाने की बातों में कोई माल नहीं है ।

देव, गुरु, धर्म की बात आती है तब कई लोग कहते है, यह तो बूढें लोगों का काम है ।

मैं पूछता हूँ कि, बूढें होने के बाद ही मरना हैं या पहले भी मरना है ?

आज तो स्वस्थ व्यक्ति भी एक सेकंड में मर जाता है । आज ऐसे ऐसे दर्द सुनने को मिलते है, जिनका पहले नाम भी सुनने को नहीं मिलता था ।

तो फिर ऐसे जमाने में `धर्म बाद में करुंगा'-यह कहना कितना गलत है । इतना याद रखे-`काल का चक्र सतत घूम रहा है, किसकी कब मौत होगी, पता नहीं है । अतः हिंसा आदि के त्याग के लिए प्रयत्न करना ही चाहिये । संपूर्ण त्याग न हो तो आंशिक त्याग भी करना चाहिये ।

`मृत्यु भले आवे ऐसा कहना तो मुर्खता है ।' ऐसा कौन कह सकता है ? पीठबल मजबूत हो तो ।

मौत में निर्मम कौन ? जिसने किसी का बुरा नहीं किया हो । जिसने किसी का बुरा नहीं चाहा हो । परंतु जो चौबीस घंटे पाप क्रियाओं में रत रहता हो और फिर कहता हो कि, मुझे मृत्यु का भय नहीं हैं, तो यह केवल मुर्खता ही है ।

निर्भयता, नम्रता, क्षमा, शांति आदि का अर्थ समझना पडेगा । सत्य समझने के लिए अभ्यास करना पडेगा । जिसे आत्मा की शाश्वतता, पुण्य पाप, परलोक पर श्रद्धा न हो, वह कुछ भी कह सकता है, परंतु हम तो आस्तिक है । आत्मा पुण्य-पाप, परलोक आदि को माननेवाले है ।

जंगली घोडे सुंदर, ऊंचे व लंबे होते हैं, परंतु लगाम बिना गांव में लाए तो उत्पात ही मचाएंगे । इसी प्रकार मनुष्य के लिए क्या अंकुश हैं ?

`मैं कौन ? मुझे क्या करना चाहिये ?' इत्यादि बातों को ध्यान में रख जो सच्चे महापुरुष हो, उन्हें समर्पित बनना चाहिये ! महापुरुषों के प्रति समर्पित होना, यह मनुष्य के लिए अंकुश है । उस अंकुश में रहकर जड की लालसा से दूर रहकर आत्म-धर्म के सन्मुख होना, यही शांति का सच्चा मार्ग है ।

उपसंहार :

समझाने पर भी आप लोग सत्य का स्वीकार न करो और असत्य का त्याग न करो तो उसमें हमें कोई नुकसान नहीं है । `आप हमारी पूजा

करे या गाली दें' इस लालच व भय को छोडकर जो सत्य हो, वह कह देना, यह हमारी फर्ज है । यदि समझोगे तो आपका कल्याण होगा ।

आपकी भौतिक समृद्धि का हमें कोई आकर्षण नहीं है । अर्थ-काम में फंसे हुए को, उसमें से बाहर निकालना, यह हमारा कर्त्तव्य है । सामनेवाला बचे या नहीं, परंतु हितबुद्धि से शुद्ध प्रयत्न करनेवाले को तो लाभ ही है ।

जब तक हमारे में आज्ञानुसारिता और उपकार बुद्धि होगी, तब तक हम अपनी फर्ज चूकनेवाले नहीं है ।

अर्थ-काम की प्रवृत्ति जीवन को दोषित करनेवाली और वैर विरोध को बढानेवाली है, इसलिए परम उपकारी महापुरुषों का कथन है-**'सुखी बनना हो तो एक ही उपाय है-अपनी कोई भी प्रवृत्ति किसी के लिए दुःखदायी न हो ।'** यह कब हो सकता है ? जीवन में से हिंसा आदि पापों का त्याग हो तो ! विषय वासना में से सैंकडों दुर्गुण सहज पैदा होते है ।

शरीर की ममता छोड आत्मा की ओर ध्यान दे । आत्मा के उद्धार के लिए सच्चे ज्ञानियों की शरणागति का स्वीकार करे ।

सभी आत्मानुलक्षी बने, जड की सेवा से पराङ्मुख बनकर मैत्री आदि चार भावनाओं में रक्त बनो ।

परिणाम स्वरुप हिंसादि पापों के त्यागी बनो और इस जीवन को सार्थक बनाओ । निकट भविष्य में मुक्तिसुख के भोक्ता बनो, यही एक शुभाभिलाषा ।

राम-वाणी

तीर्थंकर परमात्मा भी भव्यात्माओं को ही उपदेश देते हैं,
क्योंकि उन्हीं को वह उपदेश लाभ करता हैं,
अभव्यों को नहीं ।

प्रवचन-3

59

सच्चा धर्म

अनंत उपकारी कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा फरमाते हैं, **'कषाय और इन्द्रियों से पराजित आत्मा ही संसार है और कषाय और इन्द्रियों की विजेता आत्मा ही मोक्ष है । इससे स्पष्ट है कि आत्मा ही संसार है और आत्मा ही मोक्ष है ।'**

वही आत्मा कषाय और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करती हैं, तब मोक्ष स्वरुप बनती है और कषाय और इन्द्रियों के अधीन बनती हैं, तब वही आत्मा अपना संसार खडा करती है ।

कषाय और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर अनंत आत्माओं ने सिद्धिगति प्राप्त की है । उन तारक आत्माओं ने अपना जो स्वरुप प्रकट किया, वो ही स्वरुप अपनी आत्मा का है, परंतु आज वह ढंका हुआ है । मुक्त आत्माओं का तथा अपना मूल स्वरुप तो एक ही है, परंतु फर्क इतना ही है कि उनका स्वरुप प्रकट हो चुका है और अपना स्वरुप दबा हुआ है ।

`अपने सिर पर जो अनंत सिद्ध भगवंत रहे हुए हैं, वैसा ही अपना स्वरुप है । कषाय और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके ही उन तारकों ने अपना स्वरुप प्रकट किया है, यदि हम भी मेहनत करे तो आत्मा के उस स्वरुप को प्रकट कर सकते हैं'-यह बात ख्याल में आ जाय तो आत्मा जागृत हुए बिना न रहे ।'

`कषाय और इन्द्रियों की अधीनता के कारण ही मैं संसार-स्वरुप-विभाव दशा का अनुभव कर रहा हूँ' यह बात बराबर ख्याल में आ जाय तो आत्मा को अपने स्वरुप को प्रकट करने की इच्छा हुए बिना न रहे ।

आत्मा के शुद्ध स्वरुप को प्रकट करने के लिए ही जिनेश्वर भगवंतों ने मोक्ष मार्ग की स्थापना की है ।

तीर्थंकर परमात्मा, तीर्थंकर नाम की निकाचना करते हैं या तीर्थ की स्थापना करते हैं, उसके पीछे ध्येय क्या ?

एक मात्र मोक्ष ही न !

'संसार के सभी जीव दुःख मात्र से मुक्त हो और सदाकाल के लिए पूर्ण सुख को प्राप्त करे'-यही उन तारकों की भावना थी ।

कोई भी जीव, जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं करेगा, तब तक दुःख मात्र से छूटनेवाला नहीं है और पूर्ण सुख को प्राप्त करनेवाला नहीं है-इसी कारण उन तारकों ने यह भावना की कि, **'यदि मुझे शक्ति मिले तो मैं सभी को मोक्षमार्ग का रसिक बना दूँ ।'** इस उत्तम भावना के फलस्वरुप ही आत्मा, तीर्थंकर नामकर्म निकाचित करती है और उस नामकर्म के प्रभाव से ही वे तारक परमात्मा अपने अंतिम भव में राग-द्वेष का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त कर धर्मतीर्थ की स्थापना करते है ।

सामान्य बुद्धिवाला भी समझ सकता है कि जिनेश्वर भगवंत द्वारा निर्दिष्ट मार्ग मोक्ष के लिए है । जिसे मोक्ष की इच्छा ही नहीं है, उसके लिए यह मार्ग उपयोगी नहीं है ।

यह बात इतनी स्पष्ट होने पर भी जब तक भव्य जीव के काल का परिपाक नहीं होता है । तब तक ये धर्मक्रियाएँ मोक्ष के ध्येय से करने की इच्छा नहीं होती है ।

एक पुद्गल परावर्तकाल से अधिक संसारभ्रमण बाकी हो, उस आत्मा को साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा या उनकी वाणी श्रवण का योग हो जाय तो भी उस आत्मा को मोक्ष की इच्छा नहीं होती है ।

एक पुद्गल परावर्त से कम काल बाकी हो, तभी मोक्ष की इच्छा पैदा होती है, इसी कारण तो चरमावर्तकाल को जिनवाणी के प्रयोग का काल कहा गया है ।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए तो अर्धपुदगल परावर्तकाल से भी कम काल चाहिये । जीव का संसार भ्रमण अर्ध पुदगलपरावर्त से कम हो गया हो तो ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति संभव है । जो आत्मा चरमावर्त में नहीं आई हो, उस आत्मा में मोक्ष की इच्छा पैदा ही नहीं होती है ।

चरमावर्त में आने के बाद ही लघुकर्मिता आदि का योग हो जाय और जीव पुरुषार्थी बने तो उसके हृदय में क्रमशः जिनवाणी परिणत हो

सकती है और मोक्ष की इच्छा भी हो सकती है । इसके फलस्वरुप मोक्ष के ध्येय से धर्मानुष्ठान करने की रुचि पैदा हो सकती है !

काल अनुकूल हो जाय तो संसार भी सुकर बन जाता है । जिन-वाणी के श्रवण के प्रभाव से संसारसुख की तृष्णा में कटौती होती है । यह सुख छोडने जैसा और मोक्ष सुख पाने जैसा लगेगा । उसके बाद थोडा-बहुत भी जो धर्म होगा, वह संसार सुख से छूटने के लिए और मोक्ष पाने के लिए होगा । इसके प्रभाव से संसार का सुख भी ज्यादा मिलेगा, परंतु वह सुख आत्मा को मोहित नहीं करेगा । जिसके हृदय में जिनवाणी आत्मसात् होगी, वह दुःख में भी सुख का अनुभव कर सकेगा और प्राप्त सुख को भोगने पर भी वह उसमें अधिक लिप्त नहीं होगा ।

जैसे कहा जाता है-राजेश्वरी वह नरकेश्वरी ! राज्य नरक में ले जाता है, परंतु राजा के हृदय में जिनवाणी बसी हो तो राज्य भोगने पर भी राजा नरक में न जाकर सद्गति प्राप्त करता है ।

`राज्य त्याज्य लगता हो, अनिच्छा से राज्य का भोग करता हो, मोक्ष सुख को ही पाने की इच्छा हो और मोक्षमार्ग के सेवन की ओर लक्ष्य हो, पाप करने पर भी पाप में आसक्ति न हो, यह सब प्रभाव जिनवाणी को आत्मसात् करने का ही है ।

जिनवाणी के प्रभाव से लगेगा कि संसार का कोई भी सुख इच्छनीय नहीं है अतः जो कोई क्रिया करनी हो, वह मोक्ष के आशय से ही करनी चाहिये ।

मोक्ष के आशय से धर्मक्रिया करोगे तो बिना मांगे भी संसार का सुख मिलेगा ।

मांगने के बाद सुख मिला तो उस सुख पर राग बढ जाएगा और वह सुख दुर्गति में ले जाएगा ।

मांगने से जो संसार का सुख मिलेगा, वह सुख कम मिलेगा और उस सुख में आसक्ति अधिक होगी ।

संसार के सुख को छोडने योग्य मानकर मोक्ष के आशय से जो धर्म होगा, उस धर्म के प्रभाव से संसार का सुख भी ज्यादा मिलेगा और वह सुख आत्मा को मोहित नहीं करेगा ।

मोक्ष का आशय :

श्री सिद्धगिरि के कंकड-कंकड पर अनंत आत्माओं ने सिद्धपद प्राप्त किया है । ऐसे महिमावंत गिरिराज की यात्रा के लिए आए हो तो मानना ही पडेगा कि जिनवाणी को झीलने के पात्र रुप काल में आए हो ।

भगवान के दर्शन आदि मोक्ष के लिए करे । **'संसार का मुझे राग है, परंतु वह राग मुझे पसंद नहीं है, अतः उस राग को तोडने के लिए प्रभु का दर्शन करुं'**-इस भावना से प्रभुदर्शन करोगे तो वह दर्शन मोक्ष को देनेवाला बनेगा और जब तक मोक्ष नहीं होगा, तब तक भी वह संसार में अच्छी तरह रखेगा ।

राज्य के महेमान को पुलिस संभालती है । उसकी अनुकूलता की वह चिंता करती है । एक ओर राज्य की पुलिस दूसरे को घूसने नहीं देती है, वहां दूसरी ओर राज्य के महेमान को आदर से ले जाती है । इसी प्रकार जब हम मोक्ष के ध्येय से प्रभुदर्शन आदि करते हैं, तब हम भगवान के बन जाते हैं, फिर कर्मसत्ता अपने सुख की चिंता करती है ।

'संसार का सुख त्याज्य है, मोक्ष का सुख ही पाने जैसा हैं', 'मैं जो कुछ करुंगा वह मोक्ष पाने के लिए ही करुंगा' - यह बात हृदय में स्थिर हो जाय तो व्यक्ति संसार में भी बादशाह की तरह जी सकता है और हमेंशा परेशान करनेवाली कर्मसत्ता भी अनुकूल बन सकती है ।

सभा में से : *समकित प्राप्ति के पूर्व ऐसे भाव आ सकते है ?*

पूज्यपादश्री - समकित प्राप्ति के पूर्व ऐसे तो अनेक भाव आ सकते है ! समकित की प्राप्ति तो बहुत पुरुषार्थ से होती है !

मोक्ष का आशय अर्थात् मोक्ष के ध्येय से धर्मक्रिया करने की वृत्ति ! यह वृत्ति समकित प्राप्ति के पूर्व भी आ सकती है और इस प्रकार भी समकित के लिए जरुरी क्षयोपशम पैदा हो सकता है ।

मोक्ष के लिए उपदिष्ट जिनशासन की क्रियाएँ करनेवाले में व्यवहार समकित माना गया है ।

अनेक नयों में एक नैगम नय है । जिनशासन के अनुसार थोडी भी धर्म क्रिया देखने पर नैगमनय उसमें सम्यक्त्व का स्वीकार करता है ।

सभा में से : *ऐसे समकिती का संसार अर्ध पुदगल परावर्त से कम हो सकता है ?*

पूज्यपाद श्री - चौथे गुणस्थानक को प्राप्त आत्मा का ही संसार अर्ध पुदगल परावर्त से कम कह सकते है । इसके लिए दर्शनमोहनीय के क्षयोपशम आदि की आवश्यकता रहती है ।

भगवान ने मोक्ष के लिए धर्म कहा है, अतः `मैं प्रभुदर्शन आदि जो धर्मक्रिया करुं, वह मोक्ष के ध्येय से ही करुं'-यह बात निश्चित हो जानी चाहिये ।

यदि कोई पूछे कि, `सिद्धगिरि क्यों आए हो ?'

तो जवाब दे-`यह ऐसी पुण्यभूमि है, जिसके एक एक कंकड का स्पर्श कर अनंत आत्माओं ने मोक्ष प्राप्त किया है, यहाँ आने से मेरी भी मोक्ष की भावना सतेज बनेगी, मोक्षमार्ग की आराधना अच्छी तरह से हो, इसके लिए मैं यहाँ आया हूँ ।'

मोक्ष के हेतु से जो धर्म किया जाता है और उससे जो सुख मिलता है, वह सुख, दूसरे की अपेक्षा अच्छा होता है और साथ में आत्मा को मोहित कर पाप का बंध करानेवाला नहीं होता है । साथ में वह सुख धर्म की अनुकूलता करा देनेवाला होता है ।

तीर्थंकर परमात्मा को संसार के सुख की इच्छा या चिंता नहीं होती है, फिर भी उनके सुख में किसी प्रकार की कमी नहीं होती है, उनकी ऋद्धि सिद्धि का पार नहीं होता है । कुटुम्ब और सेवकजन सभी अनुकूल होते हैं । इन्द्र आदि भी उनको झुके बिना नहीं रहते है ।

जगत् में जो मनुष्य सम्माननीय होता हैं, उसका वचन आदेय हो जाता है । जगत् में मनुष्य को सम्माननीय बनानेवाला पुण्यकर्म है । वह पुण्यकर्म अच्छा बंधा हो तो उसकी वचन आदेयता से अनेक तर जाते हैं । पापवृत्ति के साथ पुण्यकर्म बंधा हो तो वह भी डूबता है और अनेक को भी डूबाता है ।

संसार सुख के लोभी को अच्छे पुण्यकर्म का बंध नहीं होता है । संसार से उद्विग्न और मोक्ष के अर्थी को ही उस प्रकार के पुण्य का बंध होता हो ।

मोक्ष के आशय से धर्म करोगे तो सुख भी मिलेगा और तकलीफ भी नहीं आएगी । कदाचित् पापोदय से तकलीफ आ गई तो भी असमाधि नहीं होगी । सुख के भोगकाल में भी राग हैरान नहीं करेगा । उस प्रकार का धर्म करने के लिए अनुकूल काल आ गया है, क्योंकि हम यहां (सिद्धगिरि पर) आ गए है ।

सभा में से : *अविधि से धर्म करे तो वह धर्मफल देगा ?*

पूज्यपाद श्री - मोक्ष के हेतु से धर्म करने का मन हो जाय तो फिर प्रभु की आज्ञानुसार धर्म करने की वृत्ति हुए बिना नहीं रहेगी । फिर क्रिया में जो अविधि होती होगी, वह उसे स्वतः दिखाई देगी और वह उसे अखरे बिना नहीं रहेगी ।

विधि बहुमान होगा तो अविधि से बहुत नुकसान नहीं होगा । एक बार आशय शुद्धि हो जाएगी तो फिर सब सरल हो जाएगा । मोक्ष का आशय पैदा करने के लिए यह अनुकूल काल है क्योंकि मोक्ष का आशय पैदा हुए बिना इनमें से कुछ भी सफल होनेवाला नहीं है ।

चरमावर्त्त के सिवाय मोक्ष का आशय पैदा नहीं होता है । तीर्थंकर का योग मिलने पर भी अभवी और दुर्भवी नहीं तर सकते हैं, क्योंकि मोक्ष का आशय पाने के लिए वे जीव पूर्णतया अयोग्य है । मोक्ष का आशय चरमावर्त्त में ही पैदा होता है । हम चाहे तो उस आशय को अवश्य पैदा कर सकते है ।

पुण्य ने आपको संसार की सामग्री दी है और धर्म की सामग्री भी दी है, परंतु उन दोनों में से कौन सी सामग्री की प्राप्ति का आनंद है ? इन दोनों सामग्री में से किस सामग्री का आकर्षण है ? किस सामग्री के लिए कौनसी सामग्री छोडने का मन होता है ? धर्मसामग्री को सफल बनाने के लिए संसारसुख की सामग्री छोडने का मन होता है या संसार सुख की सामग्री के रक्षण व उपभोग के लिए धर्मसामग्री का उपयोग करने का मन होता है ?

दोनों प्रकार की सामग्री तो मिली है, परंतु खुमारी किस सामग्री प्राप्ति की है ?

चरमावर्त्त ही धर्मप्राप्ति का काल है । अध्यात्म की प्राप्ति चरमावर्त में ही हो सकती है । परंपरा से मोक्ष का कारण बन सके, ऐसी द्रव्यक्रियाएँ भी चरमावर्त्त में ही संभव है, परंतु मात्र चरावर्त्त में आने मात्र से ही काम नहीं हो जाता है ।

चरमावर्त्त के बिना मोक्ष का आशय पैदा नहीं होता है, उसमें काल की प्रतिकूलता मुख्य कारण है । चरमावर्त्त तो आत्मा के पुरुषार्थ का काल है । अध्यात्म का आश्रय कर पुरुषार्थ करने का मन सिर्फ चरमावर्त्त में ही होता है ।

जैन शासन में मोक्ष :

मोक्ष का आशय आ जाय तो इन धर्मक्रियाओं में अपूर्व शक्ति है । मोक्ष की अभिलाषा प्रकट होने के बाद संसार की क्रियाएँ भी तीव्रभाव से नहीं होती है । इस कारण पाप का बंध कम होता है और थोडी भी जो धर्मक्रिया होती है, उससे अधिक लाभ होता है । मोक्ष का आशय आने पर कर्म अनुकूल बनने लगता है ।

सरकार जो पुलिस की व्यवस्था करती है, वह भयंकर किसके लिए ? बदमाश के लिए न ! सज्जन व्यक्ति का तो वह पुलिस रक्षण ही करती है ।

उसी प्रकार मोक्ष का आशय आने के बाद कर्म भी अनुकूल बन जाता है ।

ऐसी उत्तम क्रियाएँ हमें प्राप्त हुई है, अब सिर्फ भावना बदलने की आवश्यकता है । भावना कैसे बदलने की है ? `मुझे संसार का सुख नहीं चाहिये, सिर्फ मोक्ष का सुख ही चाहिये !'

हमारे लिए भावना को बदलना आसान है । हमारे भगवान कौन ? उनके पास संसार का सुख अत्यधिक था, फिर भी उन्होंने वह सब छोडा । वे मोक्षमार्ग के साधक और मोक्षमार्ग के प्ररुपक है ।

हमारे गुरु भी कैसे ? संसार के त्यागी और मोक्षमार्ग की आराधना में रहनेवाले ।

जिसके हृदय में मोक्ष का आशय पैदा हुआ हो, वह घर जाय या पेढी पर जाय, फिर भी वह इस बात को भूल नहीं सकता है ।

'यह धर्म मोक्ष के लिए ही है ।' यह विचार क्यों नहीं आता है ! अपने यहाँ हर क्रिया में और हर परमेष्ठी के वचन में मोक्ष शब्द आता है । कम से कम कल्पसूत्र में तो सुना ही होगा कि सभी जीवों को मोक्षमार्ग के रसिक बनाने की भावना से सभी जिनेश्वर देवों ने तीर्थंकर नामकर्म निकाचित किया और उस पुण्य के प्रभाव से ही उन तारकों ने मोक्षमार्ग रुप शासन की स्थापना की । इतना सुनने पर भी जिसे मोक्ष की इच्छा न हो, यह कितने आश्चर्य की बात है ?

सभा में से : *संस्कार ही नहीं मिले ।*

पूज्यपाद श्री - श्रावक कुल के संस्कार तो बहुत अच्छे होने चाहिये । उन संस्कारों को ग्रहण किया होता तो भी मोक्ष याद रहता ।

इस अवसर्पिणी काल में 24 तीर्थंकर हुए है । वे सब कहां गए ?

मोक्ष में !

वे सब मोक्षमार्ग की स्थापना करके गए हैं । अपने यहां तो कदम कदम पर मोक्ष की बात आती हैं, हम जिन्हें भगवान मानते हैं, वे लीला नहीं करते हैं । वे तो मोक्ष में गए हैं, वहां से वापस लौटते नहीं है । वे अब कभी भी देह धारण करनेवाले नहीं है । अपने यहां देव का स्वरुप इतना स्पष्ट है कि इन भगवान को माननेवाले में मोक्ष की इच्छा हुए बिना नहीं रहती है ।

अपने सभी चौबीस तीर्थंकरों ने दीक्षा ली है, दीक्षा पूर्व वे पूर्णतया सुखी थे । उन्हें किसी प्रकार का दुःख नहीं था । सभी प्रकार के सुखों को छोडकर उन्होंने दीक्षा ली थी । दीक्षा लेने के पूर्व उन्होंने एक वर्ष तक निरंतर दान दिया था ।

लक्ष्मी रखने जैसी नहीं, बल्कि छोडने जैसी है, यह बात उन तारकों ने दान द्वारा भी लोक हृदय में स्थिर कर दी थी । लक्ष्मी यदि अच्छी होती तो ये महापुरुष कंकड की तरह उसे क्यों उछालते ?

चौबीस तीर्थंकरों ने संसार का त्यागकर दीक्षा ली-फिर कषाय मुक्त बनकर उपसर्ग व परिषहों को सहन किया । उसके बाद केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्षमार्ग का उपदेश दिया और अंत में आयुष्य की पूर्णाहूति के साथ

वे परमात्मा मोक्ष में गए । श्री जैन शासन में मोक्ष सिवाय का कोई लक्ष्य हो ही नहीं सकता है ।

भगवान के बन जाओ :

अपने संयोगों में मोक्ष की इच्छा होना अत्यंत सरल व स्वाभाविक है । मोक्ष की इच्छा आ जाय और उस लक्ष्य से छोटी-मोटी धर्मक्रिया प्रारंभ हो जाय तो भी इस संसार में सभी अनुकूलताएँ प्रारंभ हो जाएगी ।

अनुकूल संयोग मिलने पर भी यदि मोक्ष का आशय पैदा नहीं होता हो तो अधिक काल बाकी हैं, या कर्म बहुत भारी हैं ? यह तो ज्ञानी ही कह सकते है ।

`मैं भारी कर्मी हूँ'-यह विचार आता हो और दिल में खटका लगता हो तो कर्म को भेदने का प्रयास करने का मन होगा । यदि यह आशय पैदा नहीं हुआ तो अपनी सभी होशियारी बेकार जाएगी । दुष्ट व्यक्ति ज्यों ज्यों होशियार बनेगा त्यों त्यों उसकी दुष्टता में वृद्धि ही होगी ।

आत्मकल्याण के लिए हम जो कुछ धर्म करते है, वह औदयिक भाव का है या क्षयोपशम भाव का है ? इसकी जाँच करनी चाहिये ।

पौद्‌गलिक अभिलाषा से होनेवाला धर्म औदयिक भाव का धर्म है ।

धर्म, पौद्‌गलिक अभिलाषा से नहीं, बल्कि मोक्ष की अभिलाषा से करना चाहिये-यह जानने पर भी यदि पौद्‌गलिक अभिलाषा के आग्रह से धर्म करते हो तो उससे पुण्य का बंध अल्प और पाप (मोहनीय) का बंध भयंकर होता है, परिणाम स्वरुप सुख थोडा और दुःख ज्यादा मिलता है । उस सुख के काल में भी असमाधि बनी रहती है, इस कारण उस समय भी पाप का बंध ज्यादा होता है ।

अयोग्य को धर्म न दे :

जैसे-तैसे को धर्म न दे । योग्यता देखकर धर्म देने का विधान है । जिसे धर्म देना हो, उसे पूरा पूरा पहिचानना जरुर है ।

धर्म लेनेवाले को पूछे, `धर्म किसके लिए चाहिये ?' यदि वह कहे कि `मुझे संसार में भटकना पसंद नहीं है, मुझे संसार से पार उतरना है, इसके लिए मुझे धर्म चाहिये'-तो उसे धर्मप्राप्ति के लिए योग्य समझना चाहिये । इसके बाद भी उसकी कही बात सच है या नहीं ? इसकी परीक्षा करनी चाहिये ।

यदि कोई कहे, 'धर्म करने से मान-सम्मान व भोग सुखों की प्राप्ति होती है, इसलिए धर्म करने आया हूँ'-तो उसे अयोग्य गिना जाय ! हाँ ! उसे धर्म के योग्य बनाने के लिए प्रयत्न किया जाय । उसे समझाए कि यह धर्म संसार से मुक्त होने के लिए है ।'

बालक को जैसे पतासा-प्रभावना आदि देकर धार्मिक पाठशाला में भेजा जाता है, उसी प्रकार मुग्ध जीवों को मोक्षमार्ग में जोडने के लिए गीतार्थ गुरु भगवंत योग्य प्रयत्न करते हैं, क्योंकि मुग्ध जीवों को विपरीत हेतु का आग्रह नहीं होता है । बोध के अभाव के कारण ही वे जीव पौद्‌गलिक आशय रखते हैं, परंतु पौद्‌गलिक आशय का उन्हें आग्रह नहीं होता है, जिसे पौद्‌गलिक आशय का आग्रह हो वह तो धर्म के लिए अयोग्य ही है ।

धर्म की आराधना में आशय की शुद्धि और व्रत पालन की दृढता भी चाहिये ।

जिस प्रकार धर्म की आराधना से असाधारण लाभ होता है, उसी प्रकार धर्म की विराधना से असाधारण नुकसान भी होता है ।

धर्म का स्वीकार नहीं करने में जो नुकसान है, उससे अनेक गुणा नुकसान धर्म की विराधना करने में है ।

दर्दी दवाई न ले तो नुकसान जरुर हैं, परंतु दवाई लेकर पथ्य का पालन न कर कुपथ्य का सेवन करे तो उसी दवाई से रोग नाश के बजाय रोग खूब खूब बढ जाता है ।

धर्म के सच्चे दाता दयालु होते हैं । किसी को लाभ हो, किन्तु नुकसान न हो, ऐसी मनोवृत्ति उन तारकों की होती है । योग्य को धर्म देने में स्व पर का उपकार हैं, उसी प्रकार अयोग्य को धर्म न देकर । योग्यता विकसित करने के लिए कहा जाय तो उसमें भी स्व-पर का उपकार है ।

जो दर्दी कुपथ्य का त्याग करने के लिए तैयार न हो, उसे दयालु वैद्य दवाई नहीं देता है, क्योंकि वैद्य तो दर्दी को ठीक करना चाहता है, न कि दवाई देकर जल्दी मारना चाहता है ।

जिसे संसार के लिए नहीं, बल्कि मोक्ष प्राप्ति के लिए ही धर्म करने की इच्छा हो-उसी को धर्मरुपी औषध का सेवन मोक्षरुपी आरोग्य देनेवाला होता है ।

धर्म जैसे-तैसे को न देकर, जो भवनिस्तार का अर्थी बनकर आया हो, उसी को देना चाहिये । उसकी परीक्षा भी करनी चाहिये ।

परीक्षा करने पर भी छद्मस्थ अवस्था के कारण कभी भूल भी हो सकती है ।

जैन शासन की स्थापना ही मोक्ष के लिए है । जैन शासन का थोडा भी परिचय हो, उसे अवश्य ख्याल आता है कि यहाँ सब कुछ मोक्ष के हेतु से ही कहा गया है । **'सभी संसार से मुक्त बने और मोक्ष प्राप्त करे'**-यह भावना इस शासन के मूल में है ।

जिस संस्कारी कुल में ऐसे जैन शासन की छाया हो, ऐसे कुल में पैदा होनेवाले को मोक्ष की बात में कोई आश्चर्य नहीं लगता है ।

'संसार छोडने जैसा है और मोक्ष ही पाने जैसा है ।' मोक्ष का आशय आ जाय तो कितना फायदा है ? मोक्ष के आशय से की गई धर्मक्रियाओं से उच्च प्रकार की निर्जरा और पुण्यबंध होता है, उस पुण्य के उदय से उच्च कोटि के सुख मिलते हैं, उन्हें अच्छी तरह से भोग भी सकते हैं, फिर भी खराब भाव पैदा नहीं होता है ।

हम अयोग्य है, कहकर अपना बचाव न करे, बल्कि उस `अयोग्यता' को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये ।

किसी विद्या के अर्थी विद्यार्थी में बुद्धि कम हो तो वह हर वस्तु को समझने के लिए अधिक प्रयास करता है ।

ठोठ विद्यार्थी भी हर जगह ठोठ नहीं होता है । खेलने-कूदने में व तुफान मचाने में उसका पहला नंबर होता है । परंतु पढने में जीरो नंबर होता है । उसी प्रकार आप लोग हर जगह होशियार और यहीं पर जीरो Zero ऐसा तो नहीं है न ?

मोक्ष के हेतु से मोक्षसाधक धर्म का यथाविधि सेवन करने से संसार का सुख नहीं मिलता है, ऐसी बात नहीं है, मोक्ष न हो तब तक उसे उच्च कोटि के सुख मिलते ही हैं । बात इतनी ही हैं कि संसार के सुख के प्रति अरुचि भाव पैदा होना चाहिये और उस सुख के लिए धर्म करने की वृत्ति को दूर करना चाहिये ।

जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर मरुधररत्न, पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा मुख्यतया हिन्दी भाषा में आलेखित 232 पुस्तकों में से उपलब्ध एवं अवश्य पठनीय साहित्य-सूची

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य	Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	चिंतन का अमृत-कुंभ	80/-	33.	अमृत रस का प्याला	300/-
2.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-1)	100/-	34.	श्रावक का गुण सौंदर्य	125/-
3.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-2)	100/-	35.	ध्यान साधना	40/-
4.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-3)	125/-	36.	आग और पानी-भाग-1-2	115/-
5.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-4)	135/-	37.	शांत सुधारस-हिन्दी -भाग-1-2	140/-
6.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-1	125/-	38.	शत्रुंजय यात्रा (तृतीय आवृत्ति)	40/-
7.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-	39.	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	150/-
8.	विविध-तपमाला	100/-	40.	प्रेरक-प्रवचन	80/-
9.	विवेकी बनो	90/-	41.	दंडक सूत्र	50/-
10.	बीसवी सदी के महान योगी	300/-	42.	जीव विचार विवेचन	100/-
11.	परम-तत्व की साधना भाग-3	160/-	43.	गणधर-संवाद	80/-
12.	प्रवचन-वर्षा	60/-	44.	आओ ! उपधान पौषध करें !	55/-
13.	मोक्ष-मार्ग के कदम	120/-	45.	नवपद आराधना	80/-
14.	आओ श्रावक बनें !	25/-	46.	पहला कर्मग्रंथ	100/-
15.	व्यसन-मुक्ति	100/-	47.	दूसरा-तीसरा कर्मग्रंथ	55/-
16.	श्रावक जीवन दर्शन	250/-	48.	संस्मरण	50/-
17.	शंका-समाधान (भाग-4)	60/-	49.	भव आलोचना	10/-
18.	जैन-महाभारत	130/-	50.	आध्यात्मिक पत्र	60/-
19.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (1 से 9)	300/-	51.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
20.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (10 से 40)	275/-	52.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
21.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (41 से 57)	275/-	53.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
22.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (58 से 80)	280/-	54.	इन्द्रिय पराजय शतक	50/-
23.	सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव	50/-	55.	'बेंगलोर' प्रवचन-मोती	140/-
24.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-	56.	तीन भाष्य (हिन्दी विवेचन)	150/-
25.	सुखी जीवन के Mile-Stone	100/-	57.	श्री नमस्कार महामंत्र	180/-
26.	समाधि मृत्यु	80/-	58.	महामंत्र की अनुप्रेक्षाएँ	150/-
27.	The Way of Metaphysical Life	60/-	59.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-1	200/-
28.	Pearls of Preaching	60/-	60.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-2	200/-
29.	New Message for a New Day	600/-	61.	आओ ! पर्युषण प्रतिक्रमण करें !	150/-
30.	Celibacy	70/-	62.	सज्झायों का स्वाध्याय	100/-
31.	Panch Pratikraman Sootra	100/-	63.	वर्धमान सामायिक साधना श्रेणी	30/-
32.	श्रीपाल-रास और जीवन-चरित्र	160/-	64.	वैराग्य-वाणी	140/-

पुस्तक प्राप्ति स्थान : दिव्य सन्देश प्रकाशन C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

Kamal PRINTER'S M. 9820530299